

यजुर्वेद का स्वाध्याय ।

अध्याय ४०

आत्मज्ञान ।

[वाजसनेयि-संहितोपनिषद्]

ईशोपनिषद् ।

लेखक और प्रकाशक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथमवार

संवत १९८६ शक १८५०; सन १९२९

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री. दा. सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, भारतमुद्रणालय, औंध (जि. सातारा)



ईशोपनिषद्।

यजुर्वेद अध्याय चालीस की

भूमिका।



(१) यजुर्वेदकी संहितायें।

यजुर्वेदकी कई संहितायें इस समय उपलब्ध हैं। (१) काण्व (२) माध्यंदिन, वाजसनेयी, (३) मैत्रायणी, (४) काठक, (५) तैत्तिरीय। इनमें काण्व और माध्यंदिन वाजसनेयी संहिताके अंतिम अर्थात् ४० वे अध्यायमें "आत्मज्ञान" का विचार किया है। यही वेदका अंतिम अध्याय होनेसे, वेदका अंतिम भाग अर्थात् "वेदका अंत" होनेसे इस आत्मज्ञान विभाग को "वेदांत" (वेद+अंत) कहते हैं।

काण्व संहिताका जो अंतिम ४० वां अध्याय है, वही "ईशोनिषद्" नामसे इस समय सुप्रसिद्ध है। माध्यंदिन शाखीय वाजसनेयी संहिता के ४० वे अध्याय के मंत्र केवल १७ हैं, और काण्व शाखाकी संहिताके १८ मंत्र हैं; इसके अतिरिक्त कुछ पाठ भेद भी हैं। दोनों पाठ इस पुस्तक में दिये हैं, तुलना करने पर पाठकों को पाठभेदादिक का सब पता लग जायगा।

(२) अध्याय का नाम ।

यजुर्वेद के प्रत्येक अध्यायका उद्देश विशेष होता है, और तद्नुसार उसका नाम होता है । इस ४० वे अध्याय का नाम "आत्मज्ञान" है । कोई इसको "आत्माऽध्याय, ब्रह्माऽध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त" आदि कहते हैं । इन सब शब्दोंका भाव एक ही है । इसका नाम "ईशोपनिषद्" सुप्रसिद्ध हीं है । इस नामका भाव भी यही आशय व्यक्त करता है, कि इसमें "ईश की विद्या" अथवा "आत्माका ज्ञान" कहा है । जिस सूक्तमें जो देवता हुआ करती है, उस देवताके अनुसार उस सूक्तका नाम हुआ करता है । जैसा "अग्नि, इंद्र" आदि देवताओंके सूक्तोंका नाम "अग्निसूक्त, इंद्रसूक्त" आदि होता है । इसी रीतिके अनुसार इस अध्यायमें "आत्मा अथवा ब्रह्म" का वर्णन होनेसे इसका नाम "आत्माध्याय, आत्मसूक्त किंवा ब्रह्मविद्या' होना स्वाभाविक ही है । परंतु यहां कई विद्वान ऐसी शंका करते हैं कि, इस में "अग्नि" आदि भिन्न देवताओंके नाम आनेके कारण यह सब अध्याय एकही देवताका वर्णन नहीं करता है, अथवा ईशवर्णनसे भिन्न जो अग्नि आदि देवोंका वर्णन इस अध्याय में है, वह प्रक्षिप्त है । इसलिये इस आशंकाका यहां अधिक विचार करना आवश्यक है ।

इस अध्याय की देवताका विचार करनेके पूर्व इस बात को कहना योग्य है कि, जिस समय दशोपनीषद् अथवा एकादशोपनिषद् का संग्रह इकट्ठा हुआ, अथवा एकत्रित किया गया, उस समयसे अग्नि आदि देवताओंके मंत्र इसमें, सर्व संमतिसे, माने गये हैं। उक्त उपनिषदोंका संग्रह आजकलका नहीं है। सहस्रों वर्ष पूर्व इनका संग्रह हो चुका है कि जिस समय वैदिक विद्याकी परिपाठी जीवित और जाग्रत थी । उस समयसे "ईशोपनिषद्"

में उक्त मंत्र चले आये हैं, और ईशोपनिषद् का कोई ऐसा पाठ नहीं है कि जिसमें "अग्ने नय" आदि मंत्र नहीं हैं। इस परिपाटीके क्रमको विचार कोटीमें रखनेसे पता लग जायगा कि, "अग्ने नय" आदि मंत्र प्रक्षिप्त नहीं हैं। तथापि देवता विचार करके ही इस बातका निश्चय करेंगे।

(३) इस सूक्त का देवता।

जिस सूक्त अथवा मंत्रमें जिसका वर्णन होता है उस सूक्त किंवा मंत्रकी वह देवता समझी जाती है। किसी किसी सूक्त में देवता वाचक एकही शब्द प्रारंभसे अंत तक प्रयुक्त हुआ होता है परंतु कई ऐसे सूक्त हैं कि, जिनमें एकही देवताके वाचक अनेक नाम उस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें प्रयुक्त होते हैं। जिसमें देवताका एक ही नाम प्रयुक्त होता है, उस सूक्त की देवताके विषयमें संदेह ही नहीं होता; परंतु जिस सूक्तमें विभिन्न नामोंका उपयोग होता है, उस सूक्तकी देवताके निश्चय करने में शंका उत्पन्न होती है। इसी हेतुसे इस अध्याय की देवताके विषयमें कई विद्वानोंको संदेह हुआ है, इस लिये इसकी देवताका यहां विचार करेंगे। देखिए, देवता निश्चय की रीति यह है कि प्रथम प्रत्येक मंत्रका देवता-सूचक शब्द देखना चाहिये जैसा—

मंत्र (वाजसनेयी संहिता	देवतासूचक शब्द	परिशेष
१ ईशा वास्यं	ईश	ईश
२ कुर्वन्नेवेह	०	०
३ असुर्या नाम	०	०
४ अनेजदेकं	एकं, एतत्	०
५ तदेजति	तत्	०

६ यस्तु सर्वाणि	आत्मा	आत्मा
७ यस्मिन्त्सर्वा०	"	"
८ स पर्यगात्	सः,कविः,	०
९-१४ अंधं तमः	०	०
१५ वायुरनिलं	ॐ	ओं
१६ अग्ने नय	अग्निः	अग्निः
१७ हिरण्मयेन	सत्यं	सत्यं
	पुरुषः	पुरुषः
	ब्रह्म	ब्रह्म
(काण्व संहिता)		
१६ पूषन्नेकर्षे	पूषा	पूषा
	यम	यम

देवतावाचक जो शब्द हैं, उनमें सर्वनाम, विशेषण आदि छोड-कर जो मुख्य शब्द हैं, वे " ईश, आत्मा, ओम्, अग्नि, सत्य, पुरुष, ब्रह्म, पूषा, यम" ये हैं। वैदिक रीतिसे ये सब शब्द एक ही देवताके सूचक हैं। " ब्रह्म, आत्मा, ओं, पुरुष, सत्य, " इन शब्दोंके विषयमें किसी को शंका ही नहीं हो सकती। जो कोई शंका है, वह " पूषा, यम, अग्नि " इत्यादि शब्दोंके विषयमें है। इस लिये इसका विशेष विचार करना चाहिये।

(४) अनेक नामोंसे एक तत्वका वर्णन।

यदि यह सूक्त " आत्म-ज्ञान " का प्रतिपादक है, तो " एक ही आत्मा के सब नाम हैं " यह अध्यात्मशास्त्रकी कल्पना मान-नेसे विभिन्न देवताओंके नामोंमें एक ही " आत्मा " का प्रति-पादन होना संभव है, यह बात स्वयं ही सिद्ध होगी। वेदकी भी यही कल्पना है—

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ. १।१६४।४६॥

" एकही सद्वस्तुका ज्ञानी जन बहुत प्रकार वर्णन करते हैं। उसी एक को इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं।" इस मंत्र में "अग्नि, यम" आदि शब्द हैं जो कि ईशोपनिषद् में तथा वा० य० अ०४० में आगये हैं। इस मंत्र से यह बात सिद्ध होती है कि, नामोंके भेदसे देवता भेद नहीं होता। यदि यह ऋग्वेद का कथन माना जायगा, तो बहुतसे विवाद मिट जांयगे। परंतु शंका करनेवाले युरोपीयन और उनके मतानुसार चलनेवाले एतद्देशीय विद्वानोंको यह मत माननीय नहीं हैं।! इसका कारण इतना ही है, कि उन लोगोंने अबतक वह वैदिक दृष्टि प्राप्त नहीं की है, कि जिस की वेदाध्ययन के समय अत्यंत आवश्यकता है। तथापि यथा शक्ति उनकी शंका का निरसन करना आवश्यक ही है। उक्त ऋग्वेदके कथन के साथ निम्न मंत्र भी देखिये—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
य. ३२।१

" वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु, और निश्चयसे वही चंद्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म, और वही आप् तथा प्रजापति भी वही है।" इस मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि अग्नि आदित्य आदि नामोंसे उसीका वर्णन होता है, इतनाही नहीं परंतु अग्नि आदि की सब शक्ति उसीके कारण अग्निमें रहती है। वही एक आत्मा अग्नि आदि रूपोंमें कार्य कर रहा है, इस लिये अग्निके वर्णनसे उसीका वर्णन होता है। जैसा उपनिषदों में कहा है कि

" वह आत्मा श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वाणीकी वाणी, प्राणका प्राण और श्रोत्रका श्रोत्र है" (केन उ.१।२) उसी प्रकार बाह्य सृष्टिमें " वह आत्मा अग्निका अग्नि, सूर्यका सूर्य, वायुका वायु, जलका जल," है। इस वर्णनमें "अग्नि" आदि शब्द जिस रीतिसे आत्माके वाचक होते हैं, उसी रीतिसे ईशोपनिषद्के "अग्नि, पूषा" ये शब्द भी आत्माके वाचक हैं। इसके अतिरिक्त –

> यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥ यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यंत्यन्या॥ ऋ. १०।८२।३; य. १७।२७
>
> स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥ यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ अथर्व. २।१।३

"वह आत्मा हम सबका पिता, जनक और बंधु है। वह सब भुवनों और स्थानोंको यथावत् जानता है। (यः देवानां नामधः) वह सब देवोंके नाम अपने लिये धारण करता है। और वह केवल एकही है। उस प्रश्न करने योग्य आत्माके आधारसे सब अन्य भुवन अर्थात् पदार्थ मात्र रहते हैं।" इस वर्णनमें निम्न वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—

> यः एक एव, देवानां नाम-धः।
> जो एक ही, देवोंके नाम धारण करता है॥

"अग्नि" आदि देवताओंके नाम उसीका वर्णन करते हैं, इसलिये ये नाम उसके वाचक होते हैं॥ यह मंत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें हैं। विशेषतः जिस यजुर्वेदके ४० वें अध्यायका हम विचार कर रहे हैं, उसीके १७ वे अध्यायमें यह मंत्र है। इसलिये इस अंतर्गत प्रमाणसे भी "अग्नि" आदि नाम उस

आत्माके वाचक सिद्ध होते हैं ॥ आत्माध्यायमें संगृहित होने से अग्नि आदि पदोंका आत्मा अर्थ स्पष्ट ही था, परंतु इस अंतर्गत प्रमाणसे वही बात पुनः सिद्ध हो गई है ॥ और देखिये—

त्वमग्न इंद्रो वृषभः सतामसि, त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ॥
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते० ॥ ३ ॥ त्वमग्ने राजा वरुणो
धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। त्वमर्यमा सत्पति०॥४॥
त्वमग्ने त्वष्टा० ॥ ५ ॥ त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः ॥ ६ ॥
ऋ. २। १

" हे अग्ने ! तूंही इंद्र है, सद्वस्तुओंमें बलवान् तू ही है, तूही नमन के लिये योग्य विष्णु है, तूं ही ब्रह्मा है॥ हे अग्ने ! तू वरुण राजा है और स्तुत्य मित्र तूही होता है, तूही अर्यमा है ॥ तू त्वष्टा है तू रुद्र है ।" इत्यादि मंत्रोंमें अग्नि ही अन्य देव है, " यह बात स्पष्ट कही है । इसी प्रकार अन्य देवताओंके सूक्तों में भी वे अग्नि ही हैं ऐसाभी वर्णन है । इस सब वर्णन का तात्पर्य ही यह है कि सब देवताओंके नाम एक ही " आत्मतत्व "का वर्णन करते हैं । तथा-

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः ॥ य. ५। ४।; अथर्व ४। ३९। ९

" एक अग्निमें दूसरा अग्नि प्रविष्ट है । " इस वर्णन का तात्पर्य एक (जीव) आत्मामें दूसरा (परम) आत्मा प्रविष्ट है यही है । इस प्रकार विविध मंत्र भागोंका वर्णन देखनेसे " अग्नि " शब्द आत्मावाचक है, ऐसा ज्ञान हो सकता है । जिस कारण से अग्नि शब्द आत्मावाचक सिद्ध होगा, उसी कारणसे " यम, पूषा " आदि शब्दभी आत्मावाचक ही सिद्ध होंगे । इसलिये उस विषयमें अब यहां अधिक लिखने की जरूरत नहीं है । इस विषयमें हरएक देवताके संबंधके आवश्यक प्रमाण दिये जा सकते हैं;

परंतु ऊपर जो वैदिक वर्णन की रीति का नमूना बताया गया है, उससे वक्तव्य बात सिद्ध होगई है । इस लिये अब इसके विषयमें अधिक प्रमाण देकर विषय लंबा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह कि इस अध्यायमें जो " अग्नि, यम, पूषा " आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे " ब्रह्म, आत्मा, ईश " के ही गुणबोधक पर्याय शब्द हैं । इसलिये यह संपूर्ण अध्याय एक ही आत्माका वर्णन किंवा ब्रह्मका वर्णन कर रहा है । अर्थात् नामोंकी भिन्नतासे एकही अभेद रूप सद्वस्तु का वर्णन इस अध्यायमें हुआ है । इस का विचार करनेके लिये अब ऋषिके नामका भी विचार करते हैं-

(५) इस अध्यायका ऋषि ।

किसी किसी समय ऋषीका नाम भी देवताका निश्चय करने केलिये सहायक होता है । इसलिये इस अध्याय के ऋषिके नाम का विचार करना चाहिये । अजमेर मुद्रित " यजुर्वेद संहिता " के ४० वे अध्यायका-

"ऋषिः दीर्घतमा ।"

ऐसा छपा है। परंतु यह अशुद्ध है। क्यों कि यजु सर्वानुक्रमणी में-

"ईशावास्यमष्टौ। अंधंतमो नव । द्वे सप्तदश । "

अनुवाक सूत्राध्याय

ईशा वास्यमात्मदेवत्य आनुष्टुभोऽध्यायः । अनेजदेकं त्रिष्टुप् सपरि जगती । वायुरनिलं यजुषी ।

यजु. सर्वानुक्रमणी. ४।९

ऋचं वाचं पंचाध्यायी दध्यङ्ङाथर्वणो ददर्श ।

यजु. सर्वानुक्रमणी. ४ । ५

यजु अ. ३६ से ४० तक के पांच ही अध्यायोंका " दध्यङ् अथर्वा " ऋषि कहा है । यही भाव शतपथमें भी है-

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदांचकार।
श. ब्रा. १४।१।१।२०

इस प्रकार यजुर्वेदके अंतिम पंचाध्यायीका दध्यङ् अथर्वा ऋषि है। यही भाव अन्य भाष्यकार स्वीकार करते हैं-

(१) आत्मदेवत्य अनुष्टुप्छंदस्कोऽध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः।
(महीधरभाष्य)

(२) ईशा वास्यं। तिस्रो ऽनुष्टुभः। दध्यङ् आथर्वण ऋषिः।
(उवट भाष्य)

"ईशावास्य आदि अध्यायका दध्यङ् अथर्वा ऋषि है।" इस अथर्वा का ब्रह्मवर्णन के साथ वेदमें संबंध है। प्रत्यक्ष अथर्व वेद-का नाम ही "ब्रह्मवेद" है। देखिये-

"ब्रह्मवेद"

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव॥
(गो. ब्रा. १।९)

"एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः। येऽगिरसः स रसः।
ये ऽथर्वाणस्तद्भेषजम्। यद् भेषजं तदमृतम्। यदमृतं तद्ब्रह्म।"
(गो. ब्रा. ३।४)

"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः"
(गो. ब्रा. २-१६)

"चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद" इस में अथर्व वेदका नाम "ब्रह्मवेद" आया है। अथर्व वेदमें आत्मा और ब्रह्मके सूक्त बहुत ही हैं। इसलिये भी इसका नाम ब्रह्मवेद अन्वर्थक है। इसी ब्रह्मविचार के साथ संबंध रखनेवाला "अथर्वा" यह ऋषिनाम है, इसीलिये गोपथमें इस नामकी व्यु-त्पत्ति निम्न प्रकार दी है-

तद्यदब्रवीदथार्वाङेनं...अन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्।
गो. ब्रा. १।४

" इस को अथर्वा इस लिये कहा गया कि, इसने (अथ अर्वाक् एनं अन्विच्छ) इसको यहां ही ढूंढ ऐसा कहा।" अथ+अर्वाक् ऐसा कहनेसे 'अथर्वा' कहा गया। इसका तात्पर्य यह है कि, परमेश्वर को बाहिर कहां ढूंढते हो, यहां अपने अंदर इसको ढूंढो, ऐसा जिसने कहा वह 'अथर्वा' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार 'अथर्वा' शब्दका अर्थ सिद्ध कर रहा है कि, इसका आत्मविचार के साथ संबंध है। तथा-

अथर्वाणः अथनवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः।
निरु. नै. ११।२।६

"अथर्व" का अर्थ "स्थिर" है। "थर्व" का अर्थ गति है, इस लिये "अ-थर्वा" का अर्थ "गति-रहित" होता है। योग साधन करनेके पश्चात् जो मनकी स्थिरता, एकाग्रता, अचंचलता सिद्ध होती है, उसका दर्शक यह शब्द है। स्थिरबुद्धि, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ, योगी यह इसका भाव है। इस प्रकारके योगीका ब्रह्मविचार के साथ संबंध होना स्पष्ट ही है। इसलिये इस अध्याय का "अथर्वा" ऋषिनाम बता रहा है कि, इस अध्यायमें ब्रह्मविचार किंवा आत्मविचार हुआ है; तथा इसमें आये हुए "अग्नि, यम, पूषा, पुरुष" आदि शब्द इस प्रकरणमें आत्मावाचक अथवा ब्रह्मवाचक ही निश्चयसे हैं।

देवताका विचार और ऋषिनाम का विचार करनेसे "अग्नि" आदि शब्दोंका भाव आत्म विषयक ही इस अध्यायमें होना योग्य है, यह बात सिद्ध होगई।

(६) ईश उपनिषद्का महत्व ।

सब अन्य उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथोंमें हैं। यह एकही उपनिषद् ऐसा है कि जो मंत्र संहितामें है। ब्राह्मणों और आरण्यकों की अपेक्षा मंत्र संहिता का मान और प्रामाण्य विशेष होनेसेही इस ईशोपनिषद् को पहिला स्थान प्राप्त हुआ है। यही एक "मंत्रोपनिषद्" है। और इसीके आधारपर अन्य उपनिषदों की रचना हुई है। जो ज्ञान अन्य उपनिषदोंमें है वह इसमें है, परंतु जितना उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदोंमें है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्य उपनिषदोंकी व्याख्या करनेके प्रसंगमें इसका सप्रमाण विचार किया जायगा, और वहां ही किस उपनिषद् का इसके किस मंत्रसे कैसा संबंध है, यह बताया जायगा। उदाहरणके लिये यहां इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि-

(१) केन उपनिषद्- "नैनद्देवा आप्नुवन्" इस ईशोपनिषद् के मंत्र भाग (य० ४०।४; ईश उ० ४) की व्याख्या है। इसका विशेष स्पष्टीकरण "केन उपनिषद्" की भूमिकामें किया गया है।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद् की दौडती टीका ही है। संपूर्ण यजुर्वेदके ४० अध्यायोंपर "दौडती टीका" ही शतपथ ब्राह्मणके १४ कांड हैं। इससे स्पष्ट है कि, यजुर्वेदके अंतिम ४० वे अध्याय की टीका १४ वे कांडमें है। १४ वाँ कांड ही बृहदारण्यक है। जो पाठक दोनोंकी परस्पर तुलना करेंगे, उनको यह विषय स्वयं स्पष्ट हो जायगा।

इस प्रकार इस य. अ. ४० का अर्थात् ईशोपनिषद् का संपूर्ण आत्मविद्याके ग्रंथभंडारमें अत्यंत महत्व है। ऐसा समझीये कि यह अध्याय सब आत्मविद्या के ग्रंथों में शिरस्थानमें अथवा मुख्य स्थानमें विराजता है। इसी कारण सब उपनिषदोंमें भी इसको प्रथम स्थानपर गिनते हैं।

(७) इस अध्यायकी रचना ।

इस उपनिषद्की रचना बडी विचार करने योग्य और बडी विलक्षण है। इसमें चार अधिकार हैं। जो कुछ अध्यात्मविषयक वक्तव्य है, वह सूत्र रूपसे और सारांश रूपसे प्रथम अधिकारमें ही कहा गया है, तत्पश्चात् के अधिकारोंमें उन उपदेशोंका ही विस्तार अथवा स्पष्टीकरण है। इसके अधिकार निम्न प्रकार हैं-

(१) प्रथम अधिकार — मंत्र १ से ३ मंत्रकी समाप्तितक है।

(२) द्वितीय अधिकार — मंत्र४ से ७ मंत्र की समाप्ति तक है।

(३) तृतीय अधिकार— मंत्र ८ से १४ मंत्रकी समाप्ति तक है।

(४) चतुर्थ अधिकार — मंत्र १५ से अध्याय समाप्ति तक है।

प्रत्येक अधिकार समाप्त होनेकी सूचना, उस अधिकारमें वर्णन किये हुए ज्ञानकी फलश्रुति कहनेसे, मिलती है। प्रत्येक अधिकारमें और सूक्ष्मभेद हैं, उनका विचार अध्यायकी व्याख्यामें किया जायगा। यहां अधिकारकेज्ञानका थोडासा स्वरूप बताता हूं-

प्रथमाधिकारमें "ईशा" इस एक वचनसे " परमेश्वर एक है" इसका उपदेश किया है, परंतु यहां जातिवाचक एक वचन मानने पर एक वचन होनेपर भी अनेक ईश्वर होनेकी कल्पना उत्पन्न हो सकती है। जैसा " मनुष्य" कहनेसे (१) एक मनुष्य, अथवा (२) मनुष्यकी जाती, ऐसे दोनों अर्थ संभवनीय हैं। इस संशय की निवृत्तिके लिये द्वितीय अधिकार का, तथा अन्य अधिकारोंका प्रारंभ है। देखिये—

प्रथम अधिकार—	" ईशा "	ईश्वर एक है।
द्वितीय अधिकार—	" एकं "	वह एक ही है,
	" अनेजत् "	वह नहीं हिलता,
	" पूर्वं "	वह सबसे प्राचीन है।

तृतीय अधिकार — " स पर्यगात्" वह व्यापक है,
" परि भूः " सर्वोपरि है,
" स्वयंभूः "स्वयं अपनेही आधारसे है।
चतुर्थ अधिकार— " सत्यं " वह सत्य है।

इस प्रकार प्रथम अधिकार के कथन का अधिक स्पष्टीकरण अन्य अधिकारों में है। इसका क्रम निम्न प्रश्नोत्तर से स्पष्ट होगा—

प्रश्न— इस जगत् का स्वामी कौन है ?
उत्तर—इसका स्वामी ईश्वर है और वह सर्वत्र है। (ईशः)
प्र० — ईश्वर कितने हैं ?
उ० — ईश्वर एक ही है, अनेक नहीं हैं। (एकः)
प्र० — वह यहां आ सकता है ?
उ० — वह सर्वत्र है, इसलिये एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जानेकी उसको आवश्यकता नहीं है। (अनेजत्)
प्र० — वह कबसे है ?
उ० — वह सबसे प्राचीन है, उसके पूर्व कोई भी नहीं है। (पूर्व)
प्र० — वह कहां रहता है ?
उ० — वह सर्वत्र फैला है। (सः पर्यगात्) कोई स्थान उससे रहित नहीं है। वह सबसे श्रेष्ठ है। (परिभूः)
प्र० — वह किस आधार से रहता है ?
उ० — वह अपनीही शक्ति से रहता है। (स्वयंभूः) उसके लिये किसी के आधार की आवश्यकता ही नहीं है।
प्र० — क्या वह भविष्य में भी रहेगा?
उ० — वह त्रिकालाबाधित है। (सत्यः) वह सर्वदा एक जैसाही रहता है।

इस प्रकार एक ही बातका विस्तार क्रमशः इन अधिकारोंमें हुआ है । प्रत्येक पद पद का परस्पर संबंध देखने से और सूक्ष्म विचार के साथ उनका आशय समझने से बडा ही आनंद प्राप्त हो सकता है, और अध्यात्म विद्याके गूढ सिद्धांत विशद हो सकते हैं। जैसा " एक ईश्वर " के विषय में प्रथम अधिकार में वर्णित बातों का स्पष्टीकरण आगे के अधिकारों में हुआ है, उसी प्रकार अन्यान्य विषयों का भी है । इसलिये पाठक इस दृष्टिसे इस अध्याय का अभ्यास और मनन करें ।

(८) भाष्यकारों का कथन ।

कई भाष्यकारोंने इस अध्याय के विषय में अवास्तविक बातों को प्रकट किया है, जैसा—

(१) श्री शंकराचार्यजी कहते हैं कि "ईशावास्यमित्याद्यो मंत्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषां अकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं च आत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादिवक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्यते । इति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ॥ ईश० शांकर भाष्य ॥

" ईशावास्यं० आदि मंत्र कर्मों में विनियुक्त नहीं हुए हैं, क्यों कि, इन मंत्रों में आत्मा का उत्तम वर्णन है । आत्मा शुद्ध, अपापविद्ध, एक, नित्य, अशरीरी, सर्वव्यापक आदि गुणोंसे युक्त है, ऐसा जो वर्णन इस उपनिषद् में है, वह कर्म से विरोधी है; इस लिये इन मंत्रों का विनियोग कर्मों में न होना ही युक्त है । "

श्री० पूज्य शंकराचार्यजी की यह युक्ति वास्तविक प्रबल नहीं है, यही बात यहां बतानी है । यदि आत्माका वर्णन होने से मंत्रोंका विनियोग कर्मों में नहीं होना चाहिये, तो यजु अ० ३२ के मंत्रोंमें एकही आत्माका वर्णन है, तथापि " सर्वमेधयज्ञ " नामक यज्ञकर्म में उस अध्याय का विनियोग किया गया है । आत्मा

के जो " शुद्ध, निष्पाप, एक " आदि गुण इस अध्याय में वर्णन किये गये हैं, वेही उसी अध्याय में हैं। देखिये-

सर्वमेधप्रकरणं।	ईशोपनिषद्।
(यजु. अ. ३२)	(यजु. अ. ४०)
शुक्रं (मंत्र १)	शुद्धं (मंत्र ८)
अमृतं (मं. १०)	अपापविद्धं (")
तत् (मं. १)	एकं (मं. ४)
ऋतं (मं. १२)	(सत्यं) नित्यं (मं. १५)
न प्रतिमा (मं. ३)	अकायं (मं. ८)
विभूः (मं. ८)	पर्यगात् (")

इस प्रकार जो गुण आत्मा के वर्णन रूपमें दिये गये हैं वे सब अध्याय ३२ में हैं, तथापि अध्याय ३२ कर्म में विनियुक्त है और अध्याय ४० नहीं है। इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं है। वास्तवमें देखा जायगा, तो यह बात सर्वत्र दिखाई देगी कि, मंत्रों का विनियोग जो सर्वत्र कर्मकांड में इस समय प्रचलित है, वह सब का सब प्रायः अर्थहीन है। अर्थात् जो भाव मंत्र में है, उसके अनुरूप कर्ममें उसका विनियोग ही नहीं हुआ है। मंत्रका भाव एक है और उस से जो कर्म किया जाता है वह भिन्न ही है। जैसा —

"शर्माऽसि।" यजु. अ. १।१४

इस मंत्र का विनियोग " चर्म " अर्थात् " कृष्णाजिन " उठाने के कर्म में हुआ है। परंतु " शर्म " का " चर्म " के साथ क्या संबंध है? वास्तव में कोई संबंध नहीं। इस मंत्रमें आत्मा के " शर्म " अर्थात् " सुख " गुण का वर्णन किया गया है; आत्मा स्वयं शर्म रूप है, सुखस्वरूप अथवा आनंदरूप है। इस वर्णन के साथ "चर्म उठाने का कर्म" कोई संबंध नहीं रखता। इसी प्रकार बहुधा मंत्रों के विनियोग गलत हैं। ऐसे विनियोगों को प्रमाण

मानना, और अन्य वैदिक संहितायें यज्ञ कर्मों में विनियुक्त होने से आत्मज्ञान प्रतिपादक नहीं हैं, ऐसा कहना सर्वथा अयोग्य है।

इस प्रकार के कथन से जो वृथा दोषारोप वेदके संहिताओंपर आताथा, और जिस से अन्य मंत्रों में आत्मा का वर्णन नहीं है, ऐसा जो आशय व्यक्त होता था, उसी बातका खंडन यहां किया है।

मंत्रों को जबरदस्ती किसी कर्म में विनियुक्त करनेसे ही केवल उनमें जो आत्मविद्या है, वह दूर नहीं हो सकती। इसका उत्तम उदाहरण यजु अ० ३२ है। इसकी व्याख्या (एक ईश्वर उपासना नामसे) स्वतंत्र रूपसे छपी है। हरएक पाठक इस स्थानपर उसको अवश्य देखें और अनुभव करें, कि उसमें भी कितनी आत्मविद्या है। अस्तु। यहां कहना इतनाही है कि, वेदकी संहिताओंका मुख्य वक्तव्य "आत्मा का वर्णन" ही है। परंतु कर्मकांडियों ने उनको जबरदस्ती अपने अभीष्ट कर्मोंमें विनियुक्त किया है। परंतु अर्थ की दृष्टिसे देखा जायगा, तो यह स्पष्ट दिखाई देगा; कि जिन कर्मोंमें मंत्रोंका विनियोग हुआ है, उन कर्मों के संबंध में मंत्र मुग्ध ही हैं।

इस प्रकार भाष्यकारोंने अपने पूर्वग्रहही स्थान स्थानपर बताये हैं। इसका और एक उदाहरण देखिये—

९ वेदान्त के अध्ययन का काल।

इस अध्याय के अध्ययन के काल के विषय में लिखते लिखते श्री० उवट और महीधर ये दोनों आचार्य लिखते हैं-

"समाप्तं कर्मकांडं, इदानीं ज्ञानकांडं प्रस्तूयते॥

... । दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः स्वशिष्यं पुत्रं वा गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतशरीरं, अधीतवेदं,

उत्पादित पुत्रं,......शिक्षयन्नाह ॥"

उवटभाष्य अ. ४० । १

"एकोनचत्वारिंशताध्यायैः कर्मकांडं निरूपितं । इदानीं कर्माचरणशुद्धांतःकरणं प्रति ज्ञानकांडमेकेन अध्यायेन निरूप्यते । ईशावास्यमित्यादि मंत्राणां कर्मसु विनियोगो नास्ति । तेषां शुद्धत्वैकत्वापापविद्धत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वात्मयाथात्म्यप्रतिपादनात् । तच्च कर्मणा विरुध्यते ।......ईशावास्यं......अध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः। गर्भाधानादिसंस्कारसंस्कृतं, अधीतवेदं, जनितसुतं,......शिष्यं पुत्रं वा ऋषिरुपदिशन्नाह ।

महीधरभाष्य ४० । १

" (१) यजु. अ. ३९ तक कर्मकांड समाप्त हुआ, अब ज्ञान कांड का प्रारंभ होता है । ४० ॥ "

" (२) दध्यङ् आथर्वण ऋषि अपने पुत्र अथवा शिष्य को इस अध्याय का उपदेश करता है जो शिष्य अथवा पुत्र गर्भाधानादि संस्कारों से सुसंस्कृत है, जिसने वेदका अध्ययन समाप्त किया है, और पुत्र उत्पन्न किये हैं ॥ "

ये दो कथन उक्त दोनों भाष्यों में समान ही हैं । पहिले कथन का खंडन श्री० शंकराचार्यजी के मतकी समालोचना करने के समय किया ही है । अब दूसरे कथन का विचार करना है। जिसने तो विरक्त वृत्ति से रहकर आजन्म ब्रह्मचर्य में रहना है, उस के लिये जिस समय चाहे ब्रह्म विद्या का अध्ययन करनेका अधिकार होगा । पुत्र उत्पन्न करने के पूर्व वह ब्रह्मविद्या में प्रविष्ट हो सकता है, जैसे कि श्री० शंकराचार्य स्वयं हुए थे । परंतु जो गृहस्थी होना चाहते हैं ऐसे साधारण जनों के लिये जो मार्ग उक्त दोनों आचार्योंनें अपने भाष्य में लिखा है, उस से ऐसा

प्रतीत होता है कि, पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ही वह इस ईश उपनिषद् का अध्ययन कर सकता है। अर्थात् ब्रह्मविद्याके अध्ययन का प्रारंभ करने का समय पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् है। परंतु यही बडा भारी भ्रम है। अथर्व वेदमें ब्रह्म साक्षात्कार का फल वर्णन किया है, वह यहां देखिये—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥
अथर्व १०।२

"जो अमृतमय ब्रह्मपुरी को जानता है, उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं॥ जो इस ब्रह्मपुरी को जानता है, उसके चक्षु और प्राण वृद्धावस्था के पूर्व उसको नहीं छोडते।"

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे उस ब्रह्म ज्ञानी को सुदृढ इंद्रिय, दीर्घ आयुष्य और सुप्रजानिर्माण की शक्ति प्राप्त होती है। यह ब्रह्मज्ञान का फल है। वेदांतशास्त्र के अनेक लाभों में "सुप्रजानिर्माण-शक्ति की प्राप्ति" यह भी एक लाभ है। यदि यह सत्य है तो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व ही ब्रह्मविद्याका अध्ययन होना चाहिये, और ब्रह्मपुरीका पता लगना चाहिये। परंतु उक्त आचार्य इस वैदिक सिद्धांत के विरुद्ध ही कह रहे हैं, कि पुत्रोत्पत्तिके पश्चात् यह उपनिषद् पढें, इसलिये उनका मत चिंतनीय ही है। आत्मज्ञानसे गृहस्थ के आचरण पर परिणाम होता है, इसलिये ब्रह्म विद्याका अध्ययन गृहस्थाश्रमके पूर्वही होना आवश्यक है।

पाठक भी इस अध्यायके मननके पश्चात् जान सकते हैं कि, इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही है, कि जो पूर्व आयुमें ज्ञात होने से हानिकारक सिद्ध हो; प्रत्युत इस अध्यायके सबही उपदेश आबालवृद्धोंको अत्यंत लाभदायक हैं, ऐसा हरएक पाठक अध्ययनके पश्चात् अनुभव कर सकता है। इस लिये इसका अध्ययन पूर्व आयुमें ही होना आवश्यक है।

(१०) निष्काम कर्मयोग।

श्री० शंकराचार्यजी कहते हैं कि ज्ञान और कर्मका विरोध इस उपनिषद् में है और सर्वत्र है। परंतु इस उपनिषद्का विचार करनेसे पता लग जाता है, कि ज्ञान और कर्मका समुच्चय इस को अभीष्ट है। यह उपनिषद् अथवा यह अध्याय कर्मयोगका निषेधक नहीं है और कर्मत्याग का प्रवर्तक भी नहीं है। देखिये इसके मंत्रोंमें क्या क्या उपदेश कहा है।

मंत्र १- "त्यक्तेन भुंजीथाः" यह आज्ञा यहां है। त्यागभावसे भोग करनेका उपदेश यहां मिलता है। "निष्काम-कर्मयोग" का बीज इसमें है। श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस निष्काम कर्मकी महती गायन की गई है, उसका मूल बीज इस मंत्रके इन पदोंमें है।

मंत्र २- "कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा" करनेका उपदेश इस मंत्रमें है। प्रथम मंत्रमें कहे हुए निष्काम भावसे कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करनी चाहिये। यह दोनों मंत्रोंका इकट्ठा तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय मंत्रका वास्तविक कोई विरोध नहीं है, परंतु श्री० शंकराचार्यजी कहते हैं कि पहिला मंत्र ज्ञानीके लिये है और दूसरा मंत्र ज्ञानके अनधिकारी के लिये है। इस प्रकार दोनों का परस्पर विरोध है। स्पष्टीकरणमें इनकी परस्पर संगति जो देखेंगे उनको इनमें कोई विरोधही नहीं दिखाई देगा। "पर-

मेश्वर सर्वत्र है, त्याग भावसे भोग करो, लालच न करो। निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, यही एक मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं, नरको कर्मका लेप नहीं लगता।' यह दोनों मंत्रोंका तात्पर्य है। क्या इसमें परस्पर विरोध है? वास्तवमें दोनों मंत्रोंका आशय मिलकर ही पूर्ण मानवधर्म बनता है। और इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंकी ओर देखना चाहिये।

मंत्र ३- आत्मघातक कर्म करनेवालोंका अधःपात होता है ऐसा तिसरे मंत्रमें कहा है। तात्पर्य यह है कि कोई इस प्रकारके आत्मघातक कर्म न करें और सब आत्मोन्नतिकारक पुरुषार्थ करके ही अपना अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन करें।

मंत्र४-इस चतुर्थ मंत्रमें "मातरिश्वा अपः दधाति" यह वाक्य है। माताके उदरमें रहनेवाला गर्भस्थ जीव भी कर्मोंको धारण करता है, यह इसका तात्पर्य है। पहिले जन्म में किये हुए कर्म संस्कार रूपसे गर्भ में भी रहते हैं, यह इसका तात्पर्य है। कर्म छूटते नहीं हैं। निष्काम भावसे ही कर्मके बंधनको तोडना चाहिये। यह इस उपनिषद् का आशय है।

मंत्र ५- इस मंत्रमें "तद् एजति" वह ब्रह्म सबको गति देता है। ऐसा कहनेसे उसके एक विशिष्ट कर्मका उल्लेख किया है। आत्मा ही सब जड जगत् में हलचल करता है। इसका तात्पर्य यह है कि बिलकुल कर्महीन रहना असंभव है। भगवद्गीतामें भी इसी हेतुसे कहा है कि "कोई क्षणमात्र भी कर्म न करता हुआ रह नहीं सकता।" (भ. गी. ३।५) क्यों कि आत्माका स्वभाव ही हलचल करना है। इसलिये यह मंत्रभी कर्म सूचक ही है।

मंत्र ८- इस मंत्रमें आत्माके जो गुणबोधक शब्द हैं वेभी कर्मबोधक ही हैं। "कवि, मनीषी, परिभूः" ये शब्द विशेष व्यापार के ही बोधक हैं। तथा "अर्थान् व्यदधात्" यह वाक्य तो निः

संदेह उसके कर्मका ही बोधक है। " सब अर्थोंको वह ठीक प्रकार करता है। " यही उसका पुरुषार्थ है अथवा स्वभाव है।

मंत्र ९-११— में " विद्या और अविद्या " अर्थात् आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान की उपासना करनेका उपदेश है। यहां कई-योंके मतसे " विद्या अविद्या " ये शब्द ज्ञान और कर्म के बोधक हैं। इस दृष्टीसे भी ये मंत्र ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश कर रहे हैं, न कि ज्ञान और कर्मके विरोध का।

मंत्र १२-१४— इन मंत्रों में " संभूति और असंभूति " अर्थात् संघभाव और व्यक्ति भावके कर्तव्यों का उपदेश है। संघभाव और व्यक्तिभाव के कर्तव्योंका विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों कर्तव्योंका समुच्चय ही इस उपनिषद् को अभीष्ट है।

मंत्र १५- में कहा है कि " सत्यके आचरण को दूर करो और सत्य का अवलोकन करो। " इसमें भी पुरुषार्थका ही उपदेश है।

मंत्र १७- में जीवात्मा का नाम " क्रतु ' कहा है। यह पुरुषार्थ का ही सूचक है।

मंत्र १८— में " सब कर्मोंके जाननेवाले परमेश्वरकी प्रार्थना है कि वह दुष्टता रूप शत्रुके साथ हमारे द्वारा युद्ध करवाके हमको अच्छे मार्ग पर से ले जावे। '' यह भी पुरुषार्थ ही है।

इस प्रकार इस अध्याय का प्रत्येक मंत्र श्रेष्ठ पुरुषार्थका द्योतक है। तथापि कई कह रहे हैं कि, यह उपनिषद् कर्मयोग का खंडन करता है। क्या इससे और अधिक कोई आश्चर्य है? वास्तवमें जैसा इसमें " कर्म और ज्ञानका समुच्चय " स्पष्ट शब्दोंसे कहा है वैसाही श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है। यदि गीता संपूर्ण उपनि-षदों का तत्व है, तो संपूर्ण उपनिषदोंका भी यही अभिप्राय होना चाहिये। और वैसा है भी। परंतु कई संप्रदायवाले अपने संप्रदाय-के अहंकारसे इस ज्ञानकर्म समुच्चय का विरोध करते हैं। परंतु

वह मत इन मंत्रोंमें नहीं हैं। वह उनका निजमत है। इस ईशोपनिषद् का तो स्पष्ट भाव " ज्ञान-कर्म-समुच्चय " ही है।

(११) ज्ञान और कर्म के समुच्चय का मुख्य हेतु ।

आत्माकी चार अवस्थायें हैं। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या। इन अवस्थाओंमें आत्माकी सब शक्ति प्रकट हो रही है। उक्त अवस्थाओंके नाम परमात्माके साथ वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, और आत्मा ये चार हैं। अर्थात् आत्मापरमात्माके साथ उक्त चारों अवस्थायें सूक्ष्म और बृहद्रूपसे हैं। चारों अवस्थायें आत्माका वैभव व्यक्त करने के लिये आवश्यक ही हैं। सनातन कालसे इन चारों अवस्थाओं में आत्मा अपनी शक्ति का अनुभव देख रहा है।

आत्मा	परमात्मा	अवस्था
तुर्या	शुद्धात्मा	नैष्कर्म अवस्था, (ज्ञान) निवृत्ति
सुषुप्ति	प्राज्ञ	
स्वप्न....	तैजस	कर्म अवस्था (कर्म) प्रवृत्ति.
जागृति...	वैश्वानर	

इनमें दो अवस्थायें कर्म की हैं और दो नैष्कर्म्य की हैं। चारों आवश्यक होने के कारण ज्ञान और कर्मका समुच्चय होनाही आवश्यक है। यह कोई नहीं कह सकता है कि इनमेंसे किसी अवस्था की बिलकुल आवश्यकता ही नहीं। जो अवस्था नष्ट होगी, उस अवस्थामें व्यक्त होनेवाली आत्माकी शक्ति गुप्त ही रहेगी, उस अवस्थाके विना वह प्रकट ही नहीं हो सकती। इसलिये जैसा आत्मा सनातन है वैसी ये चारों अवस्थायें भी सनातन ही हैं। परमात्मा भी तैजस वैश्वानर आदि द्वारा कर्म करता ही है, जो सृष्टिरूपके अनादि प्रवाहसे दिखाई दे रहा है। परिच्छिन्न जीवको भी उक्त कारणसे ही चारों अवस्थायें हैं। " चतुष्पाद् आत्मा " इसी

हेतुसे कहते हैं। उसके दो पांव तोडने नहीं हैं। इस कारण कर्म और ज्ञान का समुच्चय ही उन्नतिका साधक है।

कई यहां ऐसा प्रश्न करेंगे कि मुक्त अवस्थामें जागृति आदि अवस्थाएं कहां है? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि शरीरके होने और न होनेसे मुक्ति और अमुक्तिका कोई संबंध नहीं है। शरीरमें रहते हुए भी आत्मा मुक्तिका अनुभव कर सकता है और शरीरत्याग होनेपर भी आत्मा बंधन की अवस्थामें रह सकता है। मुक्तिका हेतु ही और है। "आत्माकी शक्तिका अनुभव करना और अपने आपको बंधनोंसे अलिप्त देखना मुक्ति है।" इसलिये यह शरीरमें कार्य करते हुए भी प्राप्त होती है। और इसकारण चारों अवस्थाओंका होना इसके लिये घातक नहीं है; प्रत्युत आत्माकी विकसित शक्तिका अनुभव करने के लिये इसको जागृति की आवश्यकता होगी। यही मुख्य हेतु है कि ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता आदिमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय कहा है। और किसी एक ही का स्वीकार नहीं किया। आशा है कि पाठक इस समुच्चयका महत्व जानेंगे।

(१२) इस अध्यायमें आये हुए आत्मा वाचक शब्दों का विचार।

पहिले मंत्रमें " ईश " शब्द है, वह "स्वामी, मालिक, राजा," का भाव बताता है। इससे आत्माका स्वामित्व अथवा राज्यशासन किसी दूसरे " अनीश " पर है, यह बात सिद्ध होती है और इस लिये इस जगत् में राज्य शासन रूप कर्म यह आत्मा करता है यह सिद्ध है। जैसा सेवक का कर्म है वैसा स्वामीकाभी कर्म है। स्वामी होनेपर कर्म छूटता नहीं है, परंतु बढता है।

द्वितीय मंत्रमें " नर" शब्द है। यह "नायक, नेता, चलानेवाला" इस आशयको बता रहा है। जिनका नेतृत्व इसके पास है, उनको चलानेका, और योग्य दिशासे चलानेका कार्य करना इसको आवश्यक ही है। इसलिये यह शब्द भी इसके कर्मका बोधक है।

तीसरे मंत्रमें "जनाः" शब्द जननमात्र कर्म करने वाले सामान्य लोगोंका बोधक है। इस अवस्थामें यह केवल प्रजनन करनेका कर्म करता है, संतानकी उत्पत्ति करना ही इस अवस्थामें इसका कर्म है।

चतुर्थ मंत्रमें "अर्षत्" शब्द है। गत्यर्थक ऋष् धातुसे यह शब्द बनता है, इसलिये इसका अर्थ गतिप्रधान ही है। गतिभी एक कर्मही है। ज्ञानार्थक भी यह शब्द है। तात्पर्य ज्ञान और कर्म का इस शब्दमें समुच्चय है।

षष्ठ और सप्तम मंत्रोंमें " आत्मा " शब्द है। " सातत्य गमन' किंवा सतत कर्म करने के अर्थवाला ' अत् ' धातु इस शब्दमें है। इसलिये " सतत कर्म करनेवाला " ऐसा इसका स्वयं अपना ही अर्थ है। इसीलिये आत्माके छः लक्षणों में " प्रयत्न " भी एक लक्षण संमिलित हुआ है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, ज्ञान, ये आत्मा के छः लक्षण हैं और उसका ' अत् ' धातुके अर्थ के साथ संबंध है।

अष्टम मंत्रोंमें " कवी, मनीषी, परिभूः " आदि शब्द आत्माके विविध गुण बता रहे हैं। इस में यह विचारणीय है कि ये ही विशेषण " अग्नि " देवताके भी हैं। देखिये—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम् ॥

ऋ· १ । ३१ । २

" हे अग्ने ! तू (अंगि-रस्-तमः) अंगोंमें मुख्य सत्वरूप (प्रथमः कविः) पहिला कवि है और (देवानां व्रतं) इंद्रियोंका

व्रत, अथवा देवताओंका व्रत (परिभूषसि) सुभूषित करता है।"

शरीर में आत्मा सब अंगोंका मुख्य सत्व है और वह इंद्रियोंके व्यापार चलाता है। तथा जगत् में परमात्मा मुख्य सत्वरूप है और सूर्यादिकोंको चलाता है।

इस मंत्रमें "अग्नि" शब्द आत्मा वाचक है और उसका "कवि" यह विशेष है, जो यजु० अ० ४० के आठवें मंत्रमें शुद्ध आत्माका विशेषण आया है। अग्निका अर्थ वेदमें आत्मा है इसका यह एक प्रमाण है। इस विषयके अधिक प्रमाण यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे पूर्व जो अग्नि देवता का विचार किया है, उस में यह मंत्रभी देखने योग्य है। अस्तु।

पंद्रहवे मंत्रमें "सत्य" शब्द आत्माका वाचक है। "सत्"का यमन करता है अर्थात् 'सत् का नियामक" आत्मा है। यह नियमनरूप कर्म बता रहा है।

सोलहवे मंत्रमें उक्त अर्थकाही "यम" शब्द है। नियामक शासक, ये इसके अर्थ हैं। "ईश" शब्दके अर्थके साथ ही इसका संबंध है। "पूषा" शब्द पोषण करनेका भाव, "ऋषि" शब्द गति और ज्ञानका समुच्चय."सूर्य" शब्द प्रसव ऐश्वर्य वाचक 'सु' धातुसे बननेके कारण सब जगत् की उत्पत्ति और सब जगत् का ऐश्वर्य बढानेवाला आत्मा है यह भाव बताता है। इसी मंत्रमें "प्रजा-पति" शब्द है उसका भाव प्रजापालनरूप कर्म है। यही भाव प्रथम मंत्रके 'ईश' शब्दने व्यक्त किया है। "पुरुष" शब्द पुरियोंमें रहनेका भाव बता रहा है। पूर्वोक्त चार अवस्थायें चार पुरियोंमें रहने सेही इसके अनुभवमें आतीं हैं। इसलिये पुरुष शब्दसे पूर्वोक्त चार पुरियोंके साथ संबंध और वहां के कर्म व्यक्त होते हैं।

मंत्र १७ में "ऋतु" शब्द कर्म का ही बोधक है। यह शब्द इसका स्वभाव धर्म ही बता रहा है। "शतक्रतु" शब्द जो इंद्र वाचक है

वह भी आत्माकाही वाचक है। सौ वर्ष जीवित रहकर यज्ञ करनेका भाव उस शब्दमें है। इसीलिये इस अध्याय के द्वितीय मंत्र में " कर्म करते हुए यहां सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो " ऐसा उपदेश किया है। उसका " शतक्रतु " शब्दसे निकट संबंध है।

अठारहवे मंत्रमें "अग्नि " शब्द गतिवाचक ही है क्यों कि वह गत्यर्थक " अग् " धातुसे बनता है।

इस प्रकार आत्मावाचक सबही शब्द पुरुषार्थ के वाचक हैं, यह यहां अत्यंत विचार करने योग्य बात है। इन शब्दोंसे जो जो आत्माके गुणधर्म व्यक्त हो रहे हैं, उनका विचार करनेसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका पता लग जायगा। और कर्म करना उसका स्वभावही है, यह बात भी इस विचार से सिद्ध होगी। अब इन शब्दोंका परस्पर संबंध क्या है, इसका विचार करना है-

१२ इस अध्यायके विशेष नामोंका परस्पर संबंध।

इस अध्यायमें जो विशेष नाम हैं, वे आत्माकी शक्तिका वर्णन कर रहे हैं। कई शब्द विशेषतया केवल जीवात्माका वर्णन करते हैं और कई विशेषतासे परमात्माका वर्णन कर रहे हैं। तथा कई ऐसे हैं कि जो दोनोंका वर्णन समानतासे कर रहे हैं। साधारण अवस्थासे उच्च अवस्थातक उनका कैसा क्रम है और उनसे हमें क्या बोध मिलता है, इसका यहां विचार करना है। प्रथमतः यहां इस बात को अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि, जो परमात्माके वाचक शब्द वैदिक वाङ्मयमें हैं, वे परिच्छिन्न अर्थात् मर्यादित भावके साथ जीवात्माके भी वाचक हैं, और जो जीवात्माके वाचक शब्द हैं वे अमर्यादित अर्थ के साथ परमात्माके भी वाचक हैं। प्रायः सब शब्द दोनों के लिये समानतासे ही प्रयुक्त होते हैं, क्यों

कि दोनोंके गुणधर्म बहुत अंशमें समानही हैं,और दोनोंका पितापुत्र संबंध सुप्रसिद्ध ही है। "अज,इंद्र,आत्मा" आदि शब्दोंकेसाथ सब पाठक परिचित ही हैं, और वे जानते हैं कि, ये शब्द दोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसी दृष्टिसे इन शब्दोंका यहां विचार करना है और उस के द्वारा जीवात्माकी उन्नतिका मार्ग देखना है।

परमात्मा सदा पूर्णज्ञानी है, परंतु जीवात्मा किसी कारण मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान से युक्त होता है, यह अज्ञानरूप जो अवस्था जीवात्माको किसी कारण विशेषसे प्राप्त होती है, वह कदापि परमात्माको नहीं होती। इस अवस्थाके वाचक जितने शब्द जीवात्माके लिये प्रयुक्त होते हैं, वे कभी परमात्मा के लिये प्रयुक्त नहीं होते। यह विशेषता लक्ष्यमें रखनी चाहिये। इन शब्दोंमें से एक "आत्म-हन्" शब्द तृतीय मंत्रमें प्रयुक्त हुआ है। आत्माका घात जो करता है वह आत्महन् होता है। जिसको जन्म और मरण नहीं है ऐसे अज और अमर "आत्माका घात" कैसा होता है? "अपनी शक्तिका पता न होने से ही आत्मघात होता है।" इस अधःपातका कारण अज्ञान है। यह "आत्म-हन्" शब्द उन जीवात्माओंका बोध करता है कि, जो स्वकीय शक्तिसे अनभिज्ञ होनेके कारण अपने आपको कमजोर समझते हुए हीन अवस्थामें गिरते जाते हैं। ये आत्मघातकी लोग अपनी शारीरिक शक्तिमें ही मस्त रहते हैं, नहीं नहीं, अपनी शक्तिके घमंडसे उन्मत्त होकर बडेही अनर्थ करने के लिये सिद्ध होते हैं; और प्रत्येक प्रयत्नसे गिरते ही जाते हैं।

" असु " प्राणको कहते हैं। उन प्राणोंकी जो शक्ति है वह 'असुर्य' नामसे प्रसिद्ध है। यह वस्तुतः आत्मा को ही शक्ति है, परंतु यह स्थूल शरीरमें कार्य करती है। इस शक्तिमें ही मस्त रहनेके अथवा इस शक्तिसे स्वार्थी भोग बढानेके कारण इस की

अवनति होती है। इस शक्तिको नम्र करके जब ये अपनी शक्तिका सबकी भलाई के लिये यज्ञ करेंगे, तभी इनका दोष दूर हो जायगा और ये " आत्मघातकी " नहीं कहलायेंगी।

अपनी शारीरिक शक्तिको पूर्वोक्तप्रकारके यज्ञमें जो समर्पण करता है, उसकी योग्यता उच्च होती है; वह इस अवस्थामें "नर" कहलाता है। इस अवस्थामें आनेसे यह स्वार्थ को तिलांजली देकर, अपने ही सुखमें कभी " नहीं रमता" इसी लिये न रमनेके कारण ' न + र ' नाम उसके विषयमें सार्थ होता है। स्वार्थी फल-भोग की इच्छा से किये हुए सकाम कर्म जो आत्मघातके मार्ग में उसको ले जातेथे, वे अब नहीं रहे। फल भोग में न रमने के कारण वह निष्काम कर्म करता है,और उसी कारण कर्मके बंधनसे दूर होता है, यह भाव द्वितीय मंत्रमें पाठक देख सकते हैं। जैसा निष्काम कर्म करनेवाला सत्पुरुष ' नर ' कहलाता है, उसी प्रकार पूर्ण आत्मकाम परमात्मा भी जगत् में ' नर ' है, क्यों कि उसका सब कर्म पूर्ण निष्काम भावनासे ही होता रहता है।

इस प्रकार जो निष्काम कर्म करता है, वह संपूर्ण सत्कर्म करता हुआ भी कुछभी न करनेवालेके समान निर्लेप रहता है,अतएव कहते हैं कि वह " अ-पाप-विद्ध " अर्थात् निष्पाप है। पापका कलंक उसको नहीं लग सकता क्यों कि पापके मूल कारण को ही उसने दूर किया है। जो पापके कलंकसे दूर है वह " शुद्ध " है इसमें क्या शंका हो सकती है ? जो शुद्ध और पवित्र होता है वही " शुक्र "अर्थात् वीर्यवान् किंवा बलवान् होता है। अपवित्र, दुष्ट, और पापी जो होता है वह कदापि आत्मिक बल से युक्त नहीं हो सकता। सदैव निर्दोषता का ही आत्मिक बल के साथ संबंध है।

भोगों का उपभोग होने के लिये शरीर होता है, जिसने फल भोग की इच्छा का त्याग किया, उसको शरीर की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह इसलिये ' अ-काय ' कायरहित किंवा विदेह अवस्था में रहता है, तथा शरीर के साथ होनेवाले व्रणादि दोष उसको कष्ट नहीं देते। स्नायु के बल से वह बलिष्ठ नहीं समझा जाता, परंतु उसका बल अभौतिक हुआ करता है। वह कर्म के वश में रहता हुआ देहधारण नहीं करता, प्रत्युत आवश्यकता होनेपर स्वेच्छा से देह धारण करके जनता को उठानेका महान सत्कार्य करता है।

वह जानता है कि अपना " आत्मा " मनसे भी वेगवान है। " मनसः जवीयः " मन के वेगसे अधिक वेगवान अपने आत्मा को जो मानता है वह अपने मनका स्वामी " मनीषी " होता है। वही अपने मन को स्वाधीन रख सकता है क्यों कि वह जानता है कि मैं मनका स्वामी हूं और मन मेरा नौकर है।

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और सब शरीर है। इस हेतुसे जब मन स्वाधीन हो जाता है तब सब इंद्रियां और शरीर स्वाधीन हो जाता है। और इन सबपर वह अपनी शक्ति चलाता है, मानो इस समय सबसे ऊपर उसके आत्मा की शक्ति होती है। वह इस अवस्था में अपने आत्मा को ' परि-भूः " अर्थात् सब शारीरिक शक्तियों के ऊपर प्रभाव चलानेवाला अनुभव करता है।

अपने आत्मा को वह अपने शरीर का " ईश " मानता और अनुभव करता है। मैं इस शरीर का राजा हूं, मैं इस शरीर में इंद्र हूं और मेरी शक्ति ही इस शरीर में जाकर इंद्रियों में कार्य कर रही है। इस शरीर में " आत्मा " होनेसे स्वकीय शक्ति के साथ रह सकता हूं, इस लिये मैं "स्वयं-भू " हूं। मैं अजन्मा हूं,

मेरी उत्पत्ति नहीं हुई, मैं स्वयं ही हूं, इसीलिये " स्वयं-भू" मुझे ज्ञानी कहते हैं। इस रीतिका विचार करके इस अवस्थामें वह अपने आपको स्वकीय शक्ति से अवस्थित अनुभव करता है और अपनी आत्मशक्तीसे यह शरीर चल रहा है ऐसा देखता है। आत्मा अपनी शक्ति से ही रहता है, परंतु शरीर के अस्तित्व के लिये आत्माका रस चाहिये, आत्माकी शक्ति चाहिये। इस रीतिके विचार से वह अपनी स्वतंत्रता का अनुभव प्राप्त करता है और अपने आधार पर शरीरका अस्तित्व है, अतएव वह परतंत्र है ऐसा देखता है।

मैं ' एक ' हूं और मेरे एक के आधार से शरीरकी अनेक शक्तियां हैं। उन अनेक शक्तियोंमे अपने ' एकत्व ' का यह अनुभव करने लगता है। अनेक भिन्न पदार्थोंमें एकत्वका अनुभव करनेका अभ्यास इस रीतिसे उसको होता है।

मैं कभी कंपायमान नहीं होता (अन्-एजत्), क्यों कि शरीर बननेके " पूर्व " ही मैं था, और शरीर नष्ट हो जानेपर भी मैं रहूंगा, और बीचकी अवस्थामें मैं शरीर को (अर्षत्) गति दे रहा हूं। शरीर का अस्तित्व बीचकी अवस्थामें है, परंतु मेरा अस्तित्व शरीर से पूर्व और उत्तर कालमें भी एक जैसा ही है। इस ज्ञानसे वह निर्भय होता है और अपने गौरव का वह अनुभव करता है। मुझे कोई पाशवी शक्ती नहीं दबा सकती क्यों कि पाशवी शक्तिसे कई गुणा बलवत्तर जो आत्मशक्ति है वही मैं हूं, इस प्रकारके मननसे वह आत्मिक बलसे परिपूर्ण होता है।

वह तीनों कालों में उक्त प्रकार अपने आपको " सत्य" स्वरूप समझता है। किसी कालमें मैं नहीं था ऐसा कोई काल नहीं है, परंतु शरीर एक कालमें आता है और दूसरे कालमें चला जाता है। उसके आने न आनेसे अपनी आत्मशक्तिमें कोई न्यूनाधिक

नहीं होता। यह अतींद्रियताका अनुभव इस समय वह करता है इसलिये उसको इस समय " कविः " कहते हैं। जो साधारण लोग नहीं देख सकते उस बातको अपनी असाधारण दृष्टिसे कवि लोग देखते हैं। वह असाधारण दृष्टि उसको इस समय होती है। इस दृष्टिके कारण ही वह अपने अंदर विलक्षण बलका अनुभव करने लगता ह।

वह देखता है कि शरीर धारण करने के पूर्व उस को माताके उदरमें रहना पडा है। "मातरि-श्वा" मैं ही हूं ऐसा वह इस विचार से समझता है। स्वेच्छासे देह धारण करने के समय अथवा कर्म के प्रवाहमें पडनेके कारण द्वितीय जन्म धारण करनेके समय माताके उदर में जाना आवश्यक है। तथा एक शरीर छोडकर दूसरा लेनेके पूर्व जो गर्भस्थानीय अवस्था है उसमें भी, पूर्व शरीर द्वारा मेरी प्रेरणासे किये हुए कर्म, संस्काररूप से रहते हैं। अर्थात् किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता। कर्म शरीरों के द्वारा किया जाता है, परंतु संस्कार रूपसे जन्मजन्मांतर तक वह रहता है। इस लिये आवश्यक है कि प्रशस्ततम कर्म ही किये जांय। और कभी ऐसे कर्म न हों कि जो गिरानेवाले हों। मैं आत्मा ही इस कर्मभूमिमें-देहमें-कर्मकर्ता हूं। मैं ही इस यज्ञशाला में-देहमें यज्ञकर्ता हूं। मेरी प्रेरणासे ही यहां के यज्ञ हो रहे हैं। इसी लिये मुझे "क्रतु" कहते हैं। इस देहमें रहता हुआ मैं सौवर्ष यज्ञ करता हूं इसलिये ही मैं 'शत-क्रतु' हूं। इस शतसांवत्सरीक यज्ञका बीच में ही विघ्नों के द्वारा घात होना उचित नहीं। कुविचार रूपी राक्षस सहस्त्रोंकी संख्यामें हैं जो कि इस यज्ञका विध्वंस कर रहे हैं। परंतु मैं इसको अवश्य निर्विघ्नतासे समाप्त करूंगा।

मैं 'पूषा " हूं, क्यों कि इस शरीर की पुष्टि मेरे से हो रही है। शरीर की पुष्टि मेरे विना नहीं हो सकती। मैं ही इस शरीर का

और मन आदि संपूर्ण इंद्रियोंका नियमन करनेवाला होनेसे यहां " यम " हूं। यम और नियमों के पालन करने द्वारा सबका यथा योग्य रीतिसे नियमन अवश्यही करूंगा। संयम पूर्वक ब्रह्मचर्यादिका यथायोग्य रीतिसे पालन करता हुआ सु-प्रजा उत्पन्न करके, उस सुप्रजा का उत्तम प्रकार से पालन करूंगा। क्यों कि मेरे विना मेरे संतानोंका परिपालन कौन करेगा। " प्रजा-पति " का धर्म पालन करना मेरे लिये आवश्यक ही है। मैं " प्राजापत्य "ही हूं। इसलिये सुप्रजा निर्माण करके इन का योग्य पालन करना मेरा योग्य और श्रेष्ठ कर्तव्य है। " सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। " (ऋ १।११५। १) स्थावर जंगमका आत्मा ही सूर्य है। यहां शरीर में शरीरादि स्थावर और मन आदि जंगम पदार्थों का मैं आत्मा हूं इस लिये यहां मैंही " सूर्य " हूं। ये मेरे सप्तरश्मी सात किरण सप्त इंद्रियोंमें प्रकाश कर रहे हैं, ये ही मेरे (सप्ताश्व) सात घोडे हैं। येही " सप्त ऋषी " हैं और ऋषियोंका " ऋषि " आत्मारूपसे मैं यहां विराजमान हूं।

यहां मेरी उपस्थिति होनेसे सब शरीर पवित्र रहता है और मेरे जानेसे यहां सब अमंगल हो जाता है, इस लिये यहां का सर्वा कल्याण करनेवाला मैं ही " कल्याण-तम " हूं।

इस देहरूपी पुरीका " ईश्वर " मैं हूं। ' पुरीश ' मेरा नाम है। पुरीमें वसने के कारण मुझे " पुरुष " कहते हैं। इन चार पुरियोंमें रहता हुआ मैं जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या इन चार अवस्थाओंका अनुभव करता हूं। येही ओंकार के चार पाद क्रमशः अ, उ, म, अर्ध मात्रा संज्ञासे सुप्रसिद्ध है। इस प्रकार " ओंकार " मेरे चारों अनुभवों का वर्णन कर रहा है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये इन चार पुरियोंके नाम हैं और उनके चार संकेत ओंकार में हैं। चारों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला

में किसी अवस्था के होने न होनेसे नष्ट नहीं होता, इसी लिये मैं अपने आपको ' अ-हं " अर्थात् अ-हेय समझता हूं । यह मेरी सानतन सत्ता है ।

पूर्वोक्त सप्तऋषि जिसमें हवन कर रहे हैं वह आत्माग्नि मैं ही हूं । यही आत्माका " अग्नि " है जो इस शतसांवत्सरीक " पुरुष-यज्ञ " का अधिष्ठाता " देव " है । यही सब कर्मों को जानता हुआ, इस शरीर रूपी रथ में बैठकर अपने पूर्वोक्त वैभवका अनुभव करता हुआ प्रगति करता है। अस्तु ।

इस उपनिषद् में जो आत्मावाचक शब्द हैं उनका जीवात्माके विषयमें जो अर्थ लेना आवश्यक है, और जिस अर्थका चिंतन करता हुआ,अथवा परमात्माके जिन गुणोंका चिंतन करता हुआ जीवात्मा, अपने अंदर उन सद्गुणोंका विकास करके उन्नत हो सकता है, उनका वर्णन ऊपर किया है । इन शब्दोंका परमेश्वर विषयक वर्णन प्रसिद्ध ही है और वह आगे आ जायगा । इस लिये उसका यहां पुनः वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है ।

१४ आत्मज्ञानकी आवश्यकता ।

जो ज्ञान प्रगतिके लिये अत्यंत आवश्यक है वह "आत्म-ज्ञान" ही है । साधारणतः बाह्य सृष्टिके ज्ञानसे लोग अपनी उन्नति करने का यत्न करते हैं, और प्रायः ऐसे लोग आत्मा की शक्तिके विषय में अनभिज्ञ हो रहते हैं । इनके प्रयत्नसे ही जगत् में अशांति फैलती है । येही आसुरी शक्तिसे काम करने वाले लोग हैं ।

जो दैवी शक्तिसे युक्त होते हैं वे आत्माकी शक्तिका ज्ञान संपादन करते हैं। और साथ साथ जगत् के पदार्थोंका भी विज्ञान प्राप्त करते हैं । और दोनोंके संयोगसे ऐसी उन्नति करते हैं कि जो सब की भलाई के लिये कारणीभूत होती है।

शरीर का संचालक आत्मा है और जगत् का प्रवर्तक परमात्मा है। दोनोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त करना आत्मविद्याके अध्ययन से होता है। पहिले कहाही है कि बहुत अंशमें दोनोंके गुणधर्म एक जैसे ही हैं। एक का प्रमाण और कार्यक्षेत्र छोटा और दूसरेका प्रमाण और कार्यक्षेत्र अपरिमित है। इन क्षेत्रोंके परिमित और अपरिमितता को अलग किया जायगा, तो बहुतसे गुणधर्म दोनों के एक जैसे ही हैं। इसी लिये दोनों के नाम एक जैसे ही होते हैं।

इस आत्माके गुणधर्म जानने से, अपनी शक्ति क्या है और मैं क्या कर सकता हूं इसका ज्ञान होता है, और यही ज्ञान उन्नति का हेतु है। जो जगत् के गुणधर्मों को जानता है, परंतु अपने गुणधर्मों को नहीं जानता, उसकी अवनतिकी कोई हद नहीं है। इसी लिये आत्माके ज्ञान की अत्यंत आवश्यकता है।

हरएक के आंख के सामने जगत् है, इसलिये हरएक मनुष्य जगत् का कुछ न कुछ ज्ञान रखता ही है। परंतु आत्मा वस्तुतः जगत् से भी पास है, और जगत् से भी अधिक प्रत्यक्ष है; परंतु स्थूल इंद्रियोंसे उसका दर्शन न होनेके कारण उसके विषयका ज्ञान प्राप्त करनेमें बहुत थोडे लोग प्रयत्न करते हैं। इसी लिये वेद में इसीका मुख्यतः वर्णन विविध रीतियों और अलंकारोंके द्वारा किया हुआ है। आप किसी देवताके मंत्र लीजिये, उसमें अंशतः अथवा पूर्णतः इसी आत्मा का वर्णन दिखाई देगा। परंतु वैदिक रीतिसे ही उसको देखना चाहिये। अन्य बातोंका वर्णन गौण रीतिसे है, और हरएक प्रकरण में इसीका वर्णन मुख्य है, इसका हेतु यही है।

आत्मा और जगत् इन दोनों के ज्ञानका समुच्चय उन्नति का साधक है, यह बतानेके लिये ही इस अध्यायका "विद्या अविद्या"

प्रकरण है । इसलिये अब इसी विषयका विचार करेंगे—

(१५) विद्या और अविद्या

" विद्या और अविद्या " से किसका बोध लेना है इसका अब विचार करना है । प्रायः भाष्यकारोंमें इन शब्दोंके अर्थके विषयमें मतकी एकता नहीं है । देखिये—

" विद्या "=(श्री. शंकराचार्य.) देवता-ज्ञान । (श्री. रामानुजशिष्य नारायण-प्रकाशिका) ब्रह्मोपासना, परमात्मोपासना । (श्री. माध्व० जयतीर्थ विवरण) ईश्वरका यथार्थ ज्ञान. ।(श्री. स्वा. दयानंद सरस्वती) शब्दार्थसंबंधविज्ञानमात्र अवैदिक आचरण; आत्मशुद्धांतःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थ दर्शन ।

" अ-विद्या " (श्री. शं०) कर्म । (श्री. रा., ना. प्र.) कर्म । (श्री. मा. ज. वि.) अयथार्थ ज्ञानकी निंदा । (श्री. स्वा. द.) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या, इति ज्ञानादि गुणरहितवस्तु कार्यकारणात्मक जड परमेश्वरसे भिन्न ।

ये अर्थ इस समय तक किये गये हैं । इनमें जो जगत्पूज्य आचार्य हैं उनके अर्थोंपर हस्ताक्षेप करनेका हमें अधिकारही नहीं है।तथापि उक्त अर्थों में से कई अर्थों की स्वीकृति करनेपर मंत्रोंके अर्थोंकी संगति लगती है या नहीं, इसका विचार यहां करना चाहिये । इस अध्यायमें विद्या अविद्या प्रकरणमें तीन मंत्र हैं। उनका शब्दार्थ निम्न प्रकार है-"(१) जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं, और जो केवल विद्यामें रमते हैं वे भी उससे घोर अंधेरेमें जाते हैं। (२) विद्या और अविद्या का फल भिन्न है ऐसा ज्ञानियों से हम सुनते आये हैं। (३) जो विद्या और अविद्याका समुच्चय करते हैं, वे अविद्यासे मृत्युको दूर करके विद्यासे अमृत प्राप्त करते हैं ॥ "

श्री० शंकराचार्यजी विद्या और अविद्याका अर्थ क्रमशः देवता- ज्ञान और कर्म करते हैं। परंतु ये अर्थ तीसरे मंत्रके भावके साथ संगत नहीं होते। कर्मसे स्वर्ग प्राप्त होकर जन्ममृत्यु होता है। परंतु तीसरे मंत्रमें " अविद्या से मृत्युको दूर करनेका वर्णन " है, इसलिये कर्मसे मृत्युको दूर करनेकी संभावना न होनेके कारण यह अर्थ ठीक नहीं। तथा देवता ज्ञानसे भी अमृत अर्थात् मोक्ष मिलना नहीं है। इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं दीखते। " अमृत " शब्दका अर्थ बदलकर " देवतात्मभाव " ऐसा अर्थ इन्होंने किया है। यह भी ठीक नहीं। विद्या अविद्याके अर्थ उक्त प्रकार कृत्रिम माननेसे अमृत शब्दका अर्थ भी बदलना पडा है। विद्या शब्दके व्यापक अर्थका संकोच करके "देवताज्ञान" ऐसा संकुचित अर्थ करने, तथा " अ-विद्या " शब्दका कृत्रिम बनावटी अर्थ " कर्म " ऐसा करनेके कारण ही " अमृत " शब्दके अर्थका संकोच करना पडा है। परंतु ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

इस आपत्तिको हटानेके लिये कइयोंने यह उपाय लिखा है कि " अविद्या " शब्दका अर्थ " सकाम कर्म " करना। परंतु यह अर्थ तीसरे मंत्रमें कष्ट देता है क्योंकि वहां " निष्काम कर्म " ऐसा अर्थ उचित दीखता है। इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं है।

श्री मध्वाचार्यजीका अर्थ " अयथार्थ ज्ञान की निंदा " यह विल- क्षण ही है। यह अविद्या शब्दसे कैसा निकलता है यह भी सम- झना कठिन है। अन्य अर्थोंका विचार करनेके पूर्व हम अंतर्गत प्रमाणोंसे इन शब्दोंका अर्थ करनेका यत्न करते हैं—

इस अध्यायके प्रथम मंत्रके प्रथम पादके साथ "विद्या अविद्या" का संबंध है, ऐसा पहिले कहा ही है। वह प्रथम चरण यह है।

"ईशा वास्यं इदं सर्वं।"

" ईश्वर इस संपूर्ण विश्वमें व्याप्त है। " यह इसका भाव है। " ईश " शब्दकी सापेक्षता से यह विश्व " अनीश " है ऐसा

स्वयं सिद्ध होता है। अनीशके ऊपर ही ईशका स्वामित्व है। जड के ऊपर ही चेतनका अधिकार है। ईश शब्दके वाचक अन्य शब्द इस अध्यायमें " आत्मा, ब्रह्म, सत्य, प्रजापति (प्राजापत्य), यम, पुरुष, एक" आदि हैं। इनको क्रमशः निम्न कोष्टकमें रखा है-

ईश	अनीश.
आत्मा	अनात्मा
ब्रह्म	जगत्
सत्य	असत्य
यम	यम्या
नियंता	नियम्य
पुरुष	प्रकृति
एक	अनेक
प्रजापति	प्रजा
स्रष्टा	सृष्टि

(ईशा) ......वास्यं...... (इदं सर्वं)

इससे ' ईश और इदं ' शब्दोंसे किस का बोध लेना है, इस बात का ज्ञान हो सकता है। दोही पदार्थ हैं, एक पुरुष और दूसरी प्रकृति। दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। केवल किसी एकका ज्ञान होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता। इसलिये उक्त शब्दोंके साथ विद्या शब्दका प्रयोग करेंगे—

ईश -विद्या	अनीश-विद्या
आत्म-विद्या	अनात्म-विद्या
ब्रह्म -विद्या	अब्रह्म -विद्या
०० विद्या	अ-०० -विद्या

दोनों स्थानोंसे समान शब्दोंको हटानेसे " विद्या अविद्या " ये दोही शब्द अवशिष्ट रहते हैं। पूर्वोक्त कोष्टकों के अनुसंधान से इन

शब्दोंका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है—

(१) विद्या=आत्माका ज्ञान।

(२) अविद्या=जगत् का विज्ञान।

ये अर्थ प्रथम मंत्रके अनुसंधानसे होते हैं। सब बाह्य प्रमाणोंकी अपेक्षा अंतर्गत प्रमाण अधिक बलवत्तर होता है, इसलिये ये अर्थ अंतर्गत प्रमाणोंसे प्राप्त होनेके कारण अधिक प्रामाणिक हैं। इस विद्या अविद्याके विषयमें श्रुतिही क्या कह रही है देखिये-

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ॥
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥

अथर्व. ११। ८।२३

"विद्या, अविद्या तथा और जो कुछ उपदेश करने योग्य है, वह ऋक्, यजुः, साम और (ब्रह्म) ज्ञान रूपसे शरीर में प्रविष्ट हुआ है।"

इस मंत्रमें कहा ही है कि (विद्या) आत्मज्ञान जैसा उपदेश करने योग्य है, उसी प्रकार (अ-विद्या) सृष्टिविज्ञान भी पढने योग्य है, तथा इससेभी भिन्न और (अन्यत् उपदेश्यं) अन्य ज्ञान उपदेश करने योग्य है। पाठक पूछेंगे कि वह तीसरा क्या है? विद्या अविद्या के "संबंधका ज्ञान" जो है वह तीसरा उपदेश्य ज्ञान है।

(१) एक आत्माका ज्ञान, (२) दूसरा जगत् का विज्ञान और (३) तीसरा आत्मा और जगत् के परस्पर संबंधका परिज्ञान है। केवल आत्मज्ञान अथवा केवल जगद्विज्ञान वैसा लाभकारी नहीं हो सकता, जैसा दोनोंका इकट्ठा ज्ञान हो सकता है। अर्थात् दोनोंके संबंधके परिज्ञान का भी बडा भारी महत्व है। यही बात इस अध्यायमें कही है। देखिये वेही पूर्वोक्त तीनों मंत्र-

"(१) केवल प्रकृति विद्याकी ही जो भक्ति करते हैं वे गिरते ही हैं, परंतु जो केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं वे उससे भी

अधिक अवनत होते हैं। (२) आत्मज्ञान का और जगद्विज्ञानका फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशमें सुनते आये हैं। (३) जो आत्मज्ञान और जगद्विज्ञान को साथ साथ लाभकारी समझते हैं वे जगद्विज्ञानसे दुःखोंको दूर करके, आत्मज्ञानसे अमृतको प्राप्त करते हैं।"

जगद्विद्याके ज्ञानसे ऐहिक योगक्षेम ठीक चलता है और आत्मज्ञानसे आत्मिक शक्ति और शांति प्राप्त होती है। यदि केवल जगत् के विज्ञानमें ही लोग मस्त रहेंगे और आत्मज्ञानके तरफ् जायेंगे ही नहीं; तो इस अवस्थामें वे जगत्के भोग बहुत बढायेंगे, यह बात ठीक है; परंतु उनके प्रयत्नसे आत्मिक शांति न होनेके कारण लोग इनकी संगतिसे अधिकाधिक दुःखोंमें ही गिरते जायंगे। तथा दूसरे पक्षमें जो लोग केवल आत्मज्ञानमें ही रमेंगे और जगद्विज्ञानका विचार बिलकुल छोड देंगे, तो वे भी अवनत ही होंगे, क्यों कि ऐहिक तथा स्थूल देह विषयक स्वस्थता उनको विना सृष्टिविद्याके प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार ये दोनों केवल एक एक विद्याके उपासक होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

इस लिये दोनों विद्याओंका समुच्चय करनेकी सूचना इस अध्यायमें कही है। दोनों विद्याओंको यथायोग्य प्रमाणमें जाननेसे भौतिक विद्यासे ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं और आत्मिक विद्यासे अभौतिक आनंद मिलता है। इस प्रकार मनुष्य सीधा उन्नतिके मार्गपर चलनेका अधिकारी होता है।

यह ४० वां अध्याय तत्वज्ञानका है, इसलिये इसमें जो यह सूचना दी गई है वह अत्यंत उपयोगी है। शिक्षा प्रणालीका विचार करनेवाले इससे अपनी शिक्षा प्रणाली ठीक कर सकते हैं। दूसरे लोक भी दोनों विद्याओंको जाननेका यत्न करके अपना अभ्युदय

और निश्रेयस्‌का मार्ग सुगम कर सकते हैं। आधुनिक मतमतांतर के झगडों से यदि कुछ हानी होगई है,तो यही है कि इस सम विकास के तत्वकी ओर किसीने ध्यान नहीं दिया है। और हरएक मताभिमानी अपनी अपनी ही तार खींच रहा है। परंतु इन तीन मंत्रोंका पुनः पुनः विचार करनेसे सब शंकाओंकी निवृत्ति होकर योग्य मार्ग दिखाई देता है। आशा है कि पाठक इन मंत्रोंका और भी अधिक विचार करेंगे।

(१७) संभूति और असंभूति।

पूर्वोक्त विद्या-अविद्याके प्रकरणके समानही यह संभूति और असंभूतिका प्रकरण अत्यंत विचार करने योग्य है। इन शब्दोंके अर्थ जो इस समयतक भाष्यकारोंने किये हैं वे नीचे दिये हैं—

" संभूति " (श्री. शं०) सृष्टि, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ आदि। (श्री० रा० ना० प्र०) समाधि। (श्री०मा०) श्री हरिका जगत्कर्तृकत्व जो मानते हैं। (श्री० स्वा० द०) महदादि रूपसे परिणत सृष्टि।

" अ-संभूति "- (श्री० शं०) मूल प्रकृति। (श्री० रा० ना० प्र०) समाधिके अंगभूत निषिद्ध कर्मसे निवृत्ति। (श्री० मा०) हरीका जगत्‌का संहार करनेका धर्म जो मानते हैं।(श्री०स्वा०द०) अनादि अनुत्पन्न मूलप्रकृतिरूप सत्वरजतमोगुणमय जड वस्तु।

इन अर्थों का विचार करनेके पूर्व एक बात यहां कहना आवश्यक है, वह यह है कि श्री० शंकराचार्यजी संभूति असंभूति के अर्थ जो पहिले मंत्रमें मानते हैं वेही अर्थ तीसरे मंत्रमें मानते नहीं, परंतु उनके बिलकुल उलटे अर्थ मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि-

संभूतिं च विनाशं चेत्यत्राऽवर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। प्रकृतिलय फलश्रुत्यानुरोधात्॥ (ईश० उ० शांकरभाष्य १४)

" संभूतिं च विनाशं च " इस १४ वे मंत्र में संभूति और विनाश के पूर्व अकारका लोप हुआ है ऐसा समझना उचित है। अर्थात् संभूति शब्दके स्थान पर " असंभूति " की और असंभूतिके स्थानपर " संभूति " की कल्पना करनेको कहते हैं। इस कथन सेही स्वयं यह सिद्ध होता है कि इनके संभूति असंभूतिके अर्थ तीनों मंत्रोंमें ठीक प्रकार नहीं लग सकते। जो अर्थ अपने प्रकरणमें ही सर्वत्र उपयोगी नहीं होते वे अर्थ किस प्रकार माने जा सकते हैं ? और जिन अर्थोंके लिये ' अ ' कारके लोप की कल्पना करनी पडती है वे ठीक भी किस रीतिसे हो सकते हैं ? तथा अकारलोप की कल्पना किस व्याकरण के किस नियमसे मानी जा सकती है ? यह व्याकरणविरुद्ध कल्पना है ऐसा श्री० जयतीर्थ जी ही कहते हैं—

अकारलोपेन संभूतिरव्याकृतमित्यपूर्वं
व्याकरणकौशलम् ॥ (श्री० जयतीर्थ विवरण १४)

" अकार लोपकी कल्पना कर के संभूति का ही अर्थ अव्याकृत किंवा असंभूति करना यह अपूर्व व्याकरण का कौशल्य है !" यद्यपि यह भाषा उपहासात्मक है, और इसलिये हमें उसका स्वीकार नहीं करना चाहिये, तथापि मूल वक्तव्य बात असत्य नहीं है। तात्पर्य अकारलोप मानकर अर्थ करना श्रुतिप्रामाण्यकी दृष्टिसे भी उचित नहीं है। श्रुतिको प्रमाण मानते हुए उस के शब्दों के पूर्व अकार की कल्पना करनेसे शब्दों के विपरीत ही अर्थ हो सकते हैं। इसलिये ऐसी कल्पना करनी न पडेगी ऐसे ही अर्थ हम को ढूंढने चाहिये। इनका विचार करने के पूर्व संभूति असंभूति के तीनों मंत्रोंका शब्दार्थ यहां देखिये—

" (१) जो असंभूति की उपासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं परंतु उससे भी गहरे अंधेरे में वे जाते हैं जो कि संभूति में ही

रमते हैं । (२) संभूति और असंभूतिका फल भिन्न है ऐसे हम ज्ञानियों के उपदेश में सुनते आये हैं। (३) संभूति और असंभूति को एक साथ उपयोगी जो समझते हैं, वे असंभूति के द्वारा मृत्यु को दूर करके संभूति के द्वारा अमृत को प्राप्त करते हैं।" (य. अ. ४० मं. ९-११॥; ईश. उ. मं. १२-१४)

अब पाठक ही विचार करें कि पूर्वोक्त अर्थोंमें से कौन से अर्थ किस दृष्टिसे उपयोगी हो सकते हैं। हमारी दृष्टिसे इन शब्दों का संबंध प्रथम मंत्र के द्वितीय पाद से है और उस के विचार करने से इन शब्दों का अर्थ स्वयंही स्पष्ट होना संभवनीय है और उस अवस्था में अकारलोप की कल्पना करने की कोई आवश्यकता भी नहीं। देखिये प्रथम मंत्रका द्वितीय पाद—

यत्किंच जगत्यां जगत् ॥

यह द्वितीय पाद है। प्रथम पादमें कहा है कि "ईश्वर व्यापता है इस सब विश्वमें।" (ईशा वास्यं इदं सर्वं) इसके 'सर्व' पदकी व्याख्या इस द्वितीय पादमें की है। जो कुछ जगतीमें जगत् है उस सब में ईश्वर व्यापक है। यह इन दोनों पादोंका अर्थ है। हमारे इस प्रकृत प्रकरण का अर्थ निश्चय करने के लिये "जगत्यां जगत्" इन दो शब्दों का आशय देखना आवश्यक है। "जगत्" के समुदाय का नाम है "जगती"। इसलिये "जगत्यां जगत्" शब्द में समुदाय और व्यक्तिकी कल्पना है। "समष्टि व्यष्टिरूप से जो है उस सब विश्वमें ईश्वर व्यापता है।" यह आशय उक्त मंत्रार्थ का हुआ। अब और इसका अर्थ करने के लिये निम्न कोष्टक देखिये—

जगत्यां	— × —	जगत्
जगती		जगत्
सृष्टि		एक पदार्थ

समूह	व्यक्ति
समष्टि	व्यष्टि
संघ, जाती	एक व्यक्ति
Mankind, People	A man
मानव जाती	एक मनुष्य
संभूति	अ-संभूति

" जगत्यां जगत् " इन पदों से जो गूढ भाव व्यक्त होता है वह उक्त कोष्टक में दिया है। इनके कोशों में दिये हुए अर्थ नीचे देता हूं—

(१) " सं+भू "= मिलना, एक होना, संघंधित होना।

(२) संभव—मेल, मिलाफ, एकता,सहकार,सहयोग।

(३) संभूत—मिला हुआ।

(४) संभूति—संमेलन,मिलना, एक होना.

(५) संभूय—एक होकर, साथ होकर, सहकार्य करके संघ बनाकर

(६) संभूय समुत्थान—व्यापारी संघ, हिस्सेदार होकर व्यापार करना,मिलकर ऊपर उठनेका यत्न करना, मिलकर एक होकर शत्रुपर हमला करना.

ये अर्थ देखने से पाठकों को पता लग जायगा कि " संभूति " शब्दमें " संघ " का भाव है। इसका अधिक विचार करने के लिये " सं+भू " धातु से बने हुए शब्दों का प्रयोग ही देखिये—

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते ॥
तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥
नारद स्मृति ॥

" वैश्य आदि लोग मिलकर (संभूय) सहकारिता के साथ व्यवहार करते हैं, इस व्यवहारको " संभूय समुत्थान " कहते हैं। "

यह " संभूय समुत्थान " अर्थात् सहकारिताका व्यवहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में अपने अपने कार्य के लिये हुआ करता है। (१) ब्राम्हण धर्मजागृतिके लिये, (२) क्षत्रिय शत्रुपर हमला करनेके लिये, (३) वैश्य व्यापार व्यवहार करनेके लिये और (४) शूद्र कारीगरी के संघ बनाकर अपना कार्य चलानेके लिये अपने अपने वर्णोंमें संघ (Unions) बनाते हैं। यद्यपि वर्णोंके धर्मोंके अनुसार प्रत्येक वर्णका " संभूय-समुत्थान " अर्थात् सहकारी संघ भिन्न भिन्न हेतुके लिये हुआ करता है तथापि संघकी कल्पना सर्वत्र एकसी ही है। तथा—

संभूय स्वानि कार्याणि कुर्वद्भिरिह मानवैः॥
अनेककर्मयोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥
हेमकाराद्यो यत्र शिल्पं संभूय कुर्वते ॥
कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशतः ॥

बृहस्पति स्मृति।

" जो मनुष्य मिलकर,संघ बनाकर अपने अपने व्यवहार करते हैं उनके कर्मके अनुसार लाभमें उनको भाग देना चाहिये। " सुनार आदि शिल्पी जहां संघ बनाकर कार्य करेंगे, वहां उनके कार्य प्रवीणताके अनुसार उनको लाभ मिलना चाहिये। "

इत्यादि स्थानोंमें " सं+भू " धातुसे बने हुए ' संभूय ' शब्द का प्रयोग देखने योग्य है। यही कल्पना " संभूति " में है। तात्पर्य " संभूति " शब्दसे संघभाव की कल्पना व्यक्त होती है। अर्थात् " अ-संभूति " शब्दसे व्यक्तिभाव की भावना प्रकट होती है। संघधर्म और व्यक्ति धर्मका इस प्रकरण में वर्णन है यह बात

उक्त स्पष्टीकरणसे ज्ञात हो सकती है। अब इस अर्थ को स्वीकार करके उक्त मंत्रोंका भाव देखिये—

"(१) जो केवल व्यक्ति स्वातंत्र्यके भक्त होते हैं वे गिरते हैं, परंतु जो केवल संघशक्ति में ही रमते हैं वेभी उनसे अधिक गिरते हैं। (२) व्यक्तिभावका और संघभाव का फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशसे सुनते आये हैं। (३) जो व्यक्तिभाव और संघभाव को साथ साथ उपयोगी समझते हैं वे व्यक्तिभावसे दुःखोंको दूर करके संघभावसे अमर होते हैं।"

व्यक्ति धर्मका फल यह है कि उसके पालनसे व्यक्तिकी सत्ता उत्तम प्रकारसे रहती है। स्नान, ध्यान, भोजन, व्यायाम आदिसे व्यक्तिधर्म का पालन होनेके कारण व्यक्ति की सत्ता रह सकती है। परंतु एक एक व्यक्ति सुरक्षित होनेपर भी संघभावके विना उनमें वल नहीं वढ सकता। संघधर्मसे एक लाभ है और व्यक्ति धर्म से दूसरा लाभ है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे व्यक्ति धर्मके पालनसे प्रत्येक व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें रहनेका अवसर दें, और संघधर्म के पालनसे अपनी संघशक्ति वढाते हुए जातीयता के साथ अमर वनें। हरएक मनुष्य यद्यपि मरणधर्मा है तथापि वह अपनी जातीय भावसे अमर ही है।

"संभूति असंभूति" के प्रकरणमें यह उपदेश है की संघभाव और व्यक्तिभाव का समविकास ही आवश्यक है, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और संघशक्तिके ऐसे नियम वनाने चाहिये कि जिनसे किसी एक का घात न हो और दोनोंका समविकास होकर सब की यथा योग्य उन्नति हो सके। तत्वज्ञान के अध्यायमें संघधर्म और व्यक्तिधर्म का अवश्य विचार होना ही चाहिये। व्यक्तिका जाती और राष्ट्रके साथ कैसा वर्ताव होना चाहिये, तथा

जातीका अथवा राष्ट्रका व्यक्तिके साथ कैसा वर्ताव होना योग्य है, इसका योग्य उत्तर इस प्रकरणमें पाठक देख सकेंगे ।

जिस प्रकार ज्ञान क्षेत्र में आत्माका ज्ञान और जगत् का ज्ञान साथ साथ आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म क्षेत्रमें व्यक्तिके और समूहके कर्मोंका और परस्पर संबंधोंका विचार होना चाहिये । वही विचार इस प्रकरणमें किया गया है । प्रथम मंत्रके साथ इन प्रकरणोंका विचार करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है। यह अर्थ अंतर्गत प्रमाणोंके विचारसे होनेके कारण अधिक सयुक्तिक है।

इस अर्थ में भाष्यकारोंके अर्थ आजाते हैं। परमाणुसंघ का नाम सृष्टि है और बिखरे हुए अलग अलग विभक्त परमाणु होनेसे वही मूल प्रकृति है। अर्थात् परमाणुओंका संघ " संभूति " शब्दसे भाष्यकारोंने लिया है, और परमाणुओंकी विभक्त स्थिति " असंभूति " से ली है। अर्थात् "संघभाव और असंघभाव " येही अर्थ भाष्यकारोंकोभी अभीष्ट हैं । यदि येही सामान्य मूल अर्थ लिये जांयगे तो अर्थका गौरव अधिक होगा। इसका पाठक भी अधिक विचार करें ।

(१८) द्वैतवाद और अद्वैतवाद

तत्वज्ञानका विचार करने के समय द्वैतवाद और अद्वैतवाद का विचार होना आवश्यक ही है, और उपनिषदोंका विचार होने के समय इस वादको दूर नहीं किया जा सकता । तथापि सांप्रदायिक झगडों से दूर रहना ही विचारी पाठकोंको उचित है ऐसा हमारा विचार हो रहा है। इस वाद को सांप्रदायिकोंने इतना खेंचा है कि उसपर अब और खेंचनेसे कोई लाभ होना नहीं है।

वास्तविक द्वैत है वा अद्वैत है, इसका विचार करने समय अनुभव की ही अंतिम कसौटी मानी जायगी तो निम्न प्रकार

मानना पडता है-

आत्माकी चार अवस्थायें:

(ँ)	तुर्या ... अज्ञेयस्थिति	अद्वैतका अनुभव	ओं श्री म
(म)	सुषुप्ति ... निर्विकल्प समाधि		
(उ)	स्वप्न ... सविकल्पसमाधि	द्वैतका अनुभव	
(अ)	जाग्रति .. उपासनाकी अवस्था		

आत्माकी चार अवस्थायें हैं, उनमें दो अवस्थाओंमें द्वैत का अनुभव है और दूसरी दो अवस्थाओंमें अद्वैतका अनुभव है। हर-एक मनुष्यको इन चारों अवस्थाओं का अनुभव है। यदि आत्माकी ये चारों अवस्थायें हैं तो द्वैतभी है और अद्वैत भी है। पाठकों से यहां निवेदन है कि वे सांप्रदायिक झगडोंमें न जांय। उपनिषदों में और वेदमें भी ये आजकलके संप्रदाय नहीं हैं। वेद कहता है कि आत्माकी चतुर्विध शक्ति उक्त चार अवस्थाओं द्वारा अनुभव-में आती है। यही "चतुष्पाद् आत्मा" है। वेदमें आत्मा के चारों पादों का वर्णन कई स्थानों में है। दो पादों में हम द्वैतका अनुभव कर रहें हैं और अन्य दो पादों में अद्वैत का अनुभव ले रहे हैं। जाग्रति और स्वप्नके अनुभवमें निश्चित द्वैतका ज्ञान है। " मैं " और " मैं- नहीं " ये दो पदार्थ इन दो अवस्थाओंमें हैं। " मैं, तू वह " इत्यादिका अनुभव इनमें आता है।

सुषुप्ति और तुर्या का अनुभव द्वैतका निश्चयसे नहीं हैं, परंतु " एकत्व " का है। निश्चित एकत्वका है इस विषयमें किसीको शंका हो तो वह " अ-द्वैत " का अनुभव मान सकते हैं। उस अवस्थामें " द्वैत " का अनुभव निश्चयसे नहीं होता है, परंतु " एक "का अनुभव होता है वा नहीं यह हरएक नहीं कह सकते। जो कुछ अनुभव है वह शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता;

शब्दों की गति वहां नहीं है। वहां ऐसा अनुभव है कि जिसका वर्णन द्वैतवाचक शब्द नहीं कर सकते।

वास्तविक द्वैत और अद्वैतका भाव यह है। जिस समय मतमतांतर चल पडते हैं उस समय बडे झगडे खडे होते हैं। उनसे हमें कोई वास्ता नहीं है। आत्माकी चार अवस्थायें होने के कारण, द्वैत और अद्वैतका अनुभव होनेके हेतुसे, सर्वत्र द्वैतप्रतिपादक भी मंत्रोंके साथ साथ अद्वैत प्रतिपादक भी मंत्र हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें देखिये कई श्लोक शुद्ध द्वैत का प्रतिपादन कर रहे हैं, तो कई ऐसे हैं कि जो शुद्ध अद्वैत विचार ही बोल रहे हैं। यही बात उपनिषदों में है। वेदमंत्रोंमें भी यही प्रकार है। ऐसा होनेका हेतु ऊपर दिया ही है। बहुत लोग इस मूल कारणको ध्यानमें नहीं धरते और कहते हैं कि, ग्रंथोंमें प्रक्षेप है; दूसरे कई समझते हैं कि एक प्रकारके मंत्र मुख्य हैं और दूसरे गौण हैं। कई लोग अन्य रीतिसे खैंचातानी करके किसी न किसी प्रकार निर्वाह करनेकी चेष्टा करते हैं और स्वमत की स्थापना करते हैं। परंतु ऐसा करनेसे ग्रंथका सच्चा आशय ध्यानमें नहीं आ सकता।

उक्त कारणसे ही अद्वैती लोग द्वैत प्रतिपादक मंत्रों को खींचते हैं और द्वैती लोग अद्वैत प्रतिपादक मंत्रोंको खींचते रहते हैं। परंतु उक्त रीतिसे यदि ये लोग वास्तविक बात को समझेंगे, तो खैंचातानीका कारण ही नहीं रहेगा।

इस यजु० अ० ४० में यदि देखा जायगा तो वास्तविक रीतिसे सातवे मंत्रके सिवाय सबही अन्य मंत्र द्वैत प्रतिपादक ही हैं। सातवे मंत्रका आशय निम्न प्रकार है " जिस अवस्थामें सब भूत मात्र आत्माही होगये, उस अवस्थामें एकत्वका अनुभव करने वाले विज्ञानी को शोक और मोह कैसे हो सकते हैं? " (य. ४० ।७) यह एक अवस्थाका वर्णन है। इस अवस्थामें एकत्वका अनुभव

होता है और इसी हेतुसे वहां शोक मोह नहीं बाधा करते। पूर्वोक्त कोष्टकमें " सुषुप्ति, समाधि और जीवन्मुक्ति " की जो अवस्था बताई है, उस अवस्था का यह अनुभव है। वहां भेद दर्शन नहीं होता है। परंतु चार अवस्थाओंमें यह एक अवस्था है। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है ऐसा अन्य आस्तिक दर्शनों में कहा है। यहां "ब्रह्म-रूप-ता" शब्द महत्व पूर्ण है। ब्रह्म के रूपके सदृश बनना है। इसी प्रकार " सब भूत मात्र आत्मा ही हो जानेकी अवस्था " है। आत्माके चार पादोंमें किस पादकी अवस्थामें यह अनुभव हो सकता है, यह बात इस समयतक के वर्णन से स्पष्ट हो चुकी है। इस लिये इस विषयमें यहां और अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। चार पादोंमेंसे किसी एक पादका अनुभव दूसरे पादोंके अनुभवोंको नष्ट नहीं कर सकता, इतनी ही बात यहां ध्यानमें धरनी चाहिये।

इस मंत्रके सिवाय सब अन्य मंत्र स्पष्ट ही द्वैत प्रतिपादक हैं। उनके विषयमें किसी को कोई शंका नहीं हो सकती।

सारांश।

इस प्रकार ईशोपनिषद् अथवा यजु. अ. ४० के विषयोंकी समालोचना है। इस पुस्तक में दोनों संहिताओंके पाठ दिये हैं और स्पष्टीकरणमें वेदमंत्र, अन्य उपनिषद् के वचन तथा भगवद्गीताके श्लोकोंकी तुलना की है। इससे वैदिक धर्मके सदृश विचारोंके साथ पाठक अच्छी प्रकार परिचित हो जांयगे।

आशा है कि इस प्रकार तुलनात्मक विचारसे वेदका वास्तविक अर्थ समझकर, आत्मज्ञान विषयक वैदिक सत्य सिद्धांत जानकर, पाठक अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेके लिये सिद्ध होंगे।

१ चैत्र सं. १९८६ श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

ॐ





ईश उपनिषद्।



आत्म-ज्ञान।



एक मार्ग ।

दानसे भोग कर । लोभ मत कर । प्रशस्त पुरुषार्थ करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर ।

× × ×

ओ३म्

वाजसनेयि-माध्यंदिन-शुक्ल

यजुर्वेद संहिता-पाठः ।

—o———o—

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳ रताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽअन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१६॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।
ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

[इति चत्वारिंशोऽध्यायः ।]

ॐ

शुक्ल यजुर्वेदीय

काण्व-संहिता-पाठः ।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वान्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं ती[illegible]र्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥

[इति चत्वारिंशोऽध्यायः ।]

ईशोपनिषद् का
शांति मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओम्	यह सत्य है, की
१ अदः पूर्णम्	वह पूर्ण है और
२ इदं पूर्णम्	यहभी पूर्ण है। क्योंकि,
३ पूर्णात् पूर्ण उदच्यते ।	पूर्णसे पूर्ण निकलता है ।
४ पूर्णस्य पूर्ण आदाय	पूर्णमेंसे पूर्ण लिया तो भी
पूर्ण एव अवशिष्यते ।	पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

(१) पूर्ण = परिपूर्ण, सम्पूर्ण, अनंत, जैसा चाहिए वैसा, जिसमें जराभी कमी नहीं है ऐसा, शक्तिमान् । (१, ५) ओम् = है, ठीक, निःसंदेह सत्य, सत्य। (अवति इति ओम्)= रक्षक; सबका रक्षण करनेवाला ।

१ - अदः = वह (आदितत्व, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश)
२ - इदं = यह (जगत्, सृष्टि, विश्व, अनात्मा, अनीश ।)

भावार्थ- ब्रह्म पूर्ण है और उस पूर्ण ब्रह्मसे प्रकट हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्ण बनता है । पूर्ण ब्रह्ममेंसे यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्ममें किसी भी प्रकारकी कोई भी कमी नहीं हुई है;क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्णमेंसे पूर्ण निकाला जाए तो मूल पूर्णमें कोई भी कमी नहीं आती।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

५ ओम्	हे सर्व-रक्षक
शान्तिः	(वैयक्तिक) शान्ति,
शान्तिः	(सामाजिक) शान्ति,
शान्तिः	(संसारिक) शान्ति,
	(सर्वत्र स्थिर होवे ।)

(५) शान्तिः= शांतता, समता, विषमता का अभाव । "(वैयक्तिक) शांतिः=" व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, बुद्धि, इन्द्रियां आदि सबमें वैषम्य का अभाव, उत्तम निर्दोषता, उत्तम आरोग्य इत्यादि । " (सामाजिक) शान्तिः =" समाजमें सब वर्णों तथा सब जातियों में समता और अविरोध । " (सांसारिक) शांति= " भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियों से निर्भयता, अथवा इनसे होनेवाली आपत्तियों से बचाव करनेकी यथासंभव उपाययोजना करनी ।

भावार्थ— साधक जीव जगत् में समबुद्धि से रहे; पूर्ण का ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्व को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करे । इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीर में, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तिओं के बीचमें स्वस्थता और समता को साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है । जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव समाज, इनमें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है; और सारे जगत् में शांतता उत्पन्न करने के लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है । प्रत्येक को अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवनमुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है ।

ॐ

ईश उपनिषद् ।

—०—

आत्म ज्ञान ।

—०—

(१) आत्मोन्नतिका मार्ग ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

१ ईशा वास्यं इदं सर्वं	ईशसे वसने योग्य यह सब है,
२ यत् किंच जगत्यां जगत्	जो कुछ जगती में जगत् है ।

(१) ईश=स्वामी, प्रभु, ईश्वर, नियामक, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म। "वास्यं" =(वस्)= रहना, होना, प्रतीत होना, परिधान करना, ओढना, आच्छादन करना, स्थिर करना, प्रीतिकरना, लेना, स्वीकारना, अर्पण करना । 'ईशा वास्यं'= स्वामी से वसने योग्य; स्वामी होकर वसने लायक । ईश्वरसे ओढा हुआ अथवा आच्छादित हुआ हुआ; देवके द्वारा प्रीतिसे दिया हुआ । "ईशा वास्यं इदं जगत् "। स्वतंत्र नियामक होकरही रहने योग्य यह जगत् है । परतंत्र गुलाम बने हुए के रहने योग्य यह जगत् नहीं है । (२) जगत् = हिलनेवाला, बदलने वाला, चंचल, अस्थिर, जगत्, मनुष्य । जगती=बदलनेवाली, सृष्टी, विश्व, मानव जाति। "जगत्यां जगत् "= नित्य परिवर्तनशील जगत् समुदाय में बदलनेवाला एक पदार्थ । अनेकोंमें एक; सङ्घमें व्यक्ति; समष्टिमें व्यष्टि; मानव जातिमें एक मनुष्य; जातिमें एक ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।	उसका त्यागसे उपभोग कर।
४ मा गृधः ।	लोभ मत कर।
५ कस्य स्वित् धनम् ?	किस एक व्यक्तिका भला धन है?

३ त्यक्त = त्यागा हुआ, दान किया हुआ, धर्म के लिए समर्पित किया हुआ। "भुञ्जीथाः" =(भुज्)= भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपयोग करना, अपने अधिकार में रखना, शासन करना, अपनासा करलेना। "त्यक्तेन भुञ्जीथाः"= दान करके भोग कर; दान देकर अवशिष्ट रहे हुए का उपभोग कर; उपकार के लिए समर्पण करना यही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समज। (४) "मा गृधः" = अपने अधिकार में जो जगत् का भाग आया हुआ हो, उसकाभी लोभ मत कर, उसका उपभोग करना हो तो दानकरके कर। दुसरेके पदार्थ का लोभ तो कभीभी मत कर। (५) "स्वित्"= शंका, आश्चर्य, ठीक है क्या? भला? "कस्य स्वित् धनम्"? = भला धन किस एक व्यक्ति का है? धन मेरे अकेलेका है ऐसा मानने वाले लोग मृत्यु के समय धन छोडकर चले जाते हैं; अतः धन यह किसी एक व्यक्तिका नहीं है यह बिलकुल सत्य है। तो यह किस का है? इसका उत्तर "कस्य धनं" = (कः) प्रजापति का धन है। प्रजापालन करने वाले का धन है, अथवा सर्व जनता का धन है, क्योंकि व्यक्ति के मरने परभी समाज अमर रहता है, अतः सब धन सब जनताका है और जनता का है इसी लिए व्यक्ति उसे जनता के अभ्युदय के लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुए में ही संतुष्ट होकर उसका भोग करे। सब धन सम्पूर्ण जनता का है। वह व्यक्ति का नहीं है, अतएव व्यक्ति को धनपरका लोभ छोड देना चाहिए और परोपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।

६ इह कर्माणि कुर्वन् एव,	यहां प्रशस्त कर्म करता हुआ ही
७ शतं समाः जिजीविषेत् ।	सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।

(६) **कर्म** = प्रशस्ततम कर्म, श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म, जनताकी उन्नति के कर्म, लोकसंग्रहकारक उपकारक कर्म। '**अकर्म**' = अकर्म दो प्रकारके हैं- (१) जो किये हुएभी न किए हुये के बराबर हैं; और वैयक्तिक अस्तित्व के लिये ही केवल जो कारणीभूत हैं वे । (२) निष्काम कर्म । "**विकर्म**" = विरुद्ध कर्म, अयोग्यकर्म, व्यक्ति और समाज की हानि करनेवाले कर्म । ये कर्म के तीन भेद हैं । इस मंत्रमें प्रथम अर्थ विवक्षित है । "**इह**" = यहां, इस जगत्में। (७) **शतं समाः** = सौ वर्ष, इच्छा शक्ति उत्पन्न होने के बाद के सौ साल, अर्थात् यदि २०वर्ष की उमर में इच्छा शक्ति प्रकट होती है, ऐसा मान लें तो तबसे सौ साल जीनेकी इच्छा प्रयत्न पूर्वक करे, इस प्रकार निदान १२० साल की मानवी आयु होती है । अत एव ज्योतिष् गणितकारोंने यह मान स्वीकारा है । इतना पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेकी प्रयत्न पूर्वक इच्छा रखनी चाहिऐ, ऐसा उपदेश यहां पर है । '**श्रेष्ठोंका सत्कार, बराबरवालोंके साथ संगति और नीचेकी पौडी पर स्थितोंको दान**' ये तीन कर्म यज्ञमें मुख्य हैं। इस कारण यज्ञद्वारा जनता का मेल तथा उन्नति होते हैं । सब यज्ञकर्मों का यही ध्येय है । सब यज्ञ ऐसे लोकसंग्रहकारक होनेसे ऐसे लोकसंग्रह कारक प्रशस्त कर्म के लिऐ अपने पास का धन खर्चना सबके लिए उचित है । **(१) अज्ञानियोंको ज्ञानदान, (२) बडों का आदर, (३) अतिथियोंका सत्कार, (४) भूतमात्रपर दया, और (५) भूमि जल आदि दैवी शक्तियोंका आदर पूर्वक प्रयोग;** ये पांच श्रेष्ठ (यज्ञ) कर्म प्रत्येक मनुष्य के लिये करने आवश्यक हैं ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

८ एवं त्वयि,	यह (ज्ञान) तेरेमें (हो),
९ इतः अन्यथा न अस्ति।	इससे दूसरा (मार्ग) नहीं।
१० कर्म नरे न लिप्यते।	कर्म नरको दूषित नहीं करते।

(८) "एवं त्वयि" = यहां तक जो सात उपदेश कहे, वे तुझ सरखे साधकमें स्थिर होवें। (९) "इतः अन्यथा नास्ति" = उन्नतिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग ही नहीं है। (१०) नरः= (न रमते) जो भोगों में रमता नहीं वह। "कर्म नरे न लिप्यते" = जो भोगोंमें फंस कर अपने कर्मोंसे च्युत नहीं होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता।

[सूचना- यहां तक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है- "(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्ति का सुख है ऐसा मानना, (३) दानकरके बचेहुएका स्वतः भोग करना। (४) लोभ न करना, (५) सब धन मुझ अकेलेका नहीं है पर वह सब प्रजाका है ऐसा मानना, (८) इसी एक आत्मोन्नति के मार्ग पर दृढ विश्वास रखना, (९) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धक नहीं हैं ऐसा मानना"। इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करने वाले लोक "समर्थ" बनकर जगत्‌में आदर्शभूत बनते हैं और बंधनसे मुक्त हुए हुए अंतमें उस स्थानको जाते हैं, जहां कि आत्मोन्नति करने वाले लोक जाते हैं। परन्तु इस मार्ग को न स्वीकारते हुए जो लोक आत्मघातके मार्गसे जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मंत्रमें देखीए।]

२ आत्मघातका मार्ग।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

११ असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः।	बलकेलिए प्रसिद्ध ऐसे वे लोक, गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं।

(११) असुर्य- 'असु+र' = 'असु' अर्थात् प्राण। उस प्राण की शक्ति को जो (रा-देना) देता है वह 'असु+र' है। यह 'असुर' शब्द वेदमें 'आत्मा, परमात्मा, ईश्वर,' इनका वाचक आया हुआ है। अतः उनकी जो प्राण शक्ति है उसका नाम 'असुर्य' है। "प्राणियोंको प्राणशक्ति देनेवाले देवकी प्राणशक्ति" यह इसका अर्थ है। यह शक्ति जैसी देवोंमें वैसीही राक्षसोंमें, और जैसी सज्जनोंमें वैसीही दुर्जनोंमें आई हुई है। प्रत्येक शरीरमें जो बल है, वह इसी शक्तिके कारण है। शरीरमें प्राणशक्ति के नीचे जो इन्द्रियशक्ति और शरीर शक्ति कार्य कर रही हैं वे इसी ही असुर्य शक्ति के कारण हैं। इससे पता चलेगा कि 'असुर्य' अर्थात् 'इन्द्रियोंमें और शरीरमें कार्य करनेवाले बल'। इनसे जो भिन्न हैं वे आत्माके दूसरे बल हैं, और वे प्राणसेभी उत्कृष्ट हैं; यह बात अवशिष्ट मानसिक, बौद्धिक और अध्यात्मिक शक्तियों द्वारा प्रकट होती है। बुद्धि और मन, इनमें जो चैतन्य सामर्थ्य प्रकट हुआ हुआ है वह इस 'असुर्य' नामक बलसे भिन्न है। 'असुर्या नाम ते लोकाः' = केवल जो शारीरिक बलके लिए प्रसिद्ध हैं ऐसे जो लोक हैं,' वे शारीरिक बल दिखाना, दंगा फिसाद करना, मारामारी करना, आदि गडबड सडबड के व्यवहारके लिए प्रसिद्ध हैं। सत्य, न्याय, धर्म, मानवीय उच्च आदर्श आदि बातोंके समझनेकी योग्यता इनमें नहीं है। यद्यपि इनके शारीरिक बल आत्मासेही आए हुए बल हैं तथापि वे अपने अज्ञान के कारण असन्मार्ग में लगे होते हैं, अतएव "अन्धेन तमसा आवृताः" = ये लोक "अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए हुए हैं" = ऐसा समझा जाता है।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति	वे मृत्युके बाद उनमें जाते हैं
ये के च आत्महनः जनाः ।	जो कोई आत्मघाती जन हैं ।

"ये के च आत्महनः जनाः ते तान् प्रेत्य अभि (अपि) गच्छन्ति।" = जो कोई आत्मघाती जन हैं, वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके बादभी जाते हैं; अर्थात् उनकी जीतेजी भी इन लोकोंमें गणना होती है। 'जन' = जन अर्थात् केवल प्रजनन करके कैसीभी संतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ हैं, जिनसे इसकी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंसनीय मानवी कर्तव्य होना संभव नहीं है। ये जन आत्मोन्नतिका पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ हैं और इनके लट्ठबाज होनेसे इनसे यदि कोई कार्य होभी गया, तो वह आत्मा की अवनति का ही कारणीभूत होता है, इस लिए इन्हें यहां आत्मघातकी ऐसा कहा गया है। पूर्वके दो मंत्रोंमें जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्ग का अवलम्बन न करते हुए उसके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलम्बन करते हैं। **आत्मघातका मार्ग यह है =**

"(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर, व्यक्तिका यथा संभव स्वार्थ बढाते हुए उससे संघके नाशके कारणीभूत कुकर्मों को करते रहना, (३) स्वार्थ पूर्वक भोग करना, (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना, (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना; (१०) सत्कर्म भी बंधक हैं ऐसा मानना।"

ये दश प्रकारके मार्ग आत्मघातके हैं। इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगति को प्राप्त करता है यह बात इस मंत्रने दिखलाई है।

३ आत्म-तत्वका वर्णन ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो

१२ एकं, अन्-एजत्,	वह एक, चंचलता रहित,
पूर्व, अर्षत्,	सबसे पूर्वका, स्फूर्ति देनेवाला,
मनसः जवीयः ।	मनकी अपेक्षा वेगवान् है।

[प्रथम मंत्रमें 'ईश सर्वत्र वसता है,' ऐसा कहा है, परन्तु वह एक है अथवा अनेक? और उसका क्या सामर्थ्य है? इस विषयमें कुछ नहीं कहा है। यद्यपि वहां 'ईशा' ऐसा एक वचन का प्रयोग है, तथापि यह संदेह हो सकता है कि शायद वह जातिवाचक एक वचन हो; अतः उपरोक्त शंका को दूर करने के लिए इस मंत्रमें वह 'एक' ही है, ऐसा कहकर उसके गुणों का वर्णन किया हुआ है। वे गुण इस प्रकार हैं-] 'एकं' = वह पूर्ण ब्रह्म एक है। 'अनेजत्' = वह हिलता नहीं अर्थात् वह स्थिर है। वह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इधर उधर नहीं जाता, वह चंचल नहीं है। 'पूर्व' = वह सबसे पूर्वका है। जगत् निर्माणके भी पूर्व वह था। 'अर्षत्' = (ऋष्=गति) सबको गति देनेवाला है, स्फूर्ति देनेवाला है, वह चालक, प्रेरक और निरीक्षक है। 'मनसः जवीयः' = वह मनकी अपेक्षा वेग-वान् है। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियां और शरीर इस क्रमसे देखें तो, प्रथम की अपेक्षा दूसरेमें गति कम और तीसरेमें उससे भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है। इस लिए वह मनसे ऊपर दो तीन सीढीयां आगे होनेसे मनसे भी अधिक वेगवान है। मन चंचल है सही, पर मन जिसका भी चिंतन करता है वहां वह ब्रह्म पूर्वसेही व्याप्त होनेसे, मन उससे पहिले कहीं भी जा नहीं सकता; क्यों कि मनसे पूर्व वही सर्वत्र फैला हुआ है। [मनसे वह अत्यन्त वेगवान् होनेसे मन उसे प्राप्त नहीं कर सकता यह बात स्पष्ट ही है, परन्तु इतर 'देव' (इन्द्रियां) उसे

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

१३ देवाः एनत् न आप्नुवन्	इन्द्रियां इसे पहुंचतीं नहीं ।
१४ तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति ।	वह स्थिर होता हुआ दौडते हुए दूसरोंके आगे जाता है !

प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—)

(१३) देवाः एनत् न आप्नुवन्= देवोंके तीन क्षेत्र हैं। 'व्यक्तिगत देव' व्यक्तिमें आंख, कान आदि इन्द्रियां देव हैं । ये इन्द्रियां बहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन नहीं होता । "मानव-समाजस्थ देव" = ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य समाजमें देव हैं । ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हेंभी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता । "जगतमें स्थित देव" = सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि देव जगतमें हैं । ये भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नहीं हैं । इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते । व्यवहारमें न फंसते हुए जो बंधनसे छूटता है, व निःसंग वृत्तिसे रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है । (१४) "तिष्ठत्" = वह ब्रह्म स्थिर है। ऐसा होते हुए भी वह "धावतः अन्यान् अत्येति" = दौडते हुए दूसरे पदार्थों के भी पहिले गया हुआ होता है । व्यक्तिमें इन्द्रियां दौड रही हैं, समाजमें मनुष्य भागदौड मचा रहे हैं, जगत्में सूर्य, चंद्रादि नक्षत्रभी दौड रहे हैं । परन्तु ये सब जहां दौडकर जाते हैं, वहां पहिलेसे ही ब्रह्म पहुंचा हुआ होता है । चाहे कोई कितनाभी तेज दौडता हो पर वह इससे पूर्व पहोंचनेके स्थान पर पहुंच नहीं सकता । [दूसरे मंत्रमें 'प्रशस्त कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीनेकी प्रयत्न पूर्वक इच्छा करनी चाहिए,' ऐसा कहा है । परन्तु

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

१५ तस्मिन् मातरि-श्वा अपः दधाति ।	उसके आधारसे माताके (गर्भमें) रहनेवाला (जीव) कर्मोंको धारण करता है ।

इस पर ऐसी शंका उठती है कि एकदम अन्तके जो कर्म होंगे, उनका फल मृत्यु हो जानेसे उस व्यक्तिको नहीं मिलेगा और ऐसी दशामें वे उत्तम कर्म व्यर्थ जाएगें? इसका उत्तर **'किए गए कर्म व्यर्थ नहीं जाते'** ऐसा अग्रिम मंत्र भागमें दिया हुआ है, उसे अब यहाँ देखिए—]

(१५) **'मातरि-श्वा'** = माताके उदरमें रहनेवाला जीव, जिसका पूर्वका शरीर छूट गया है और जिसका दूसरा देह बन रहा है, वह माताके गर्भमें आया हुआ जीव, **'तस्मिन् अपः दधाति'** = उस ब्रह्मके आधारसे अपने कर्म धारण करता है । जिस प्रथम शरीरसे कर्म किये थे वह यद्यपि नष्ट हो गया और आगेका शरीर नहीं भी मिला, तो भी इससे पूर्व कृत अच्छे बुरे कर्म नष्ट नहीं होते । परमेश्वरके त्रिकाल स्थिर नियमोंसे वे कर्म संस्कार रूपसे आत्माके पास रहते हुए जीवको अच्छे बुरे भोग देते ही हैं । [अथवा **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन० ।"** (भ. गी. ५।१०) ब्रह्मको समर्पण करते हुए आसक्ति रहित कर्म जो करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है।' इस गीताके वचनानुसार भी इस मंत्र भाग का अर्थ हो सकता है । **'तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति'** = उस ब्रह्म को कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है, (वह पापसे बद्ध नहीं होता)। दूसरे मंत्रमें **'नर कर्मसे लिप्त होता नहीं'** = ऐसा कहा है, वह किस प्रकारसे? यह इस मंत्र भागने दिखाया है, ऐसा यहां सम्बन्ध जानना चाहिऐ] इस मंत्रमें कहे गए प्रकारसे आत्माका ध्यान करना चाहिए । इस मंत्र भागसे पुनर्जन्मकी कल्पना उत्तमतया दिखाई गई है ।)

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्य तः ॥ ५ ॥

१६ तत् एजति (एजयति)	वह हिलाता है, (परन्तु)
१७ तत् न एजति ।	वह (स्वयं) हिलता नहीं।
१८ तत् दूरे	वह दूर है, (और)
१९ तत् उ अन्तिके ।	वह निश्चयसे समीप (भी है)
२० तत् अस्य सर्वस्य अन्तः	वह इस सबके अन्दर है। (और)
२१ तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः	वह निश्चयसे इस सब के बाहिर (भी है)

(१६-२१) तत् = वह, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पूर्ण ईश्वर। (१६) "तत् एज(य)ति" = वह सबको प्रेरित करता है, चलाता है, फिराता है परन्तु (१७) 'तत् न एजति' = वह स्वयं हिलता नहीं, चंचल नहीं होता। वह सदा स्थिर व अचल रहता है। (१८-१९) 'तत् दूरे, तत् उ अन्तिके' = वह दूर है और निश्चयसे पास भी है; अर्थात् वह सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त है; अथवा वह अज्ञानी मनुष्यको अत्यन्त दूर और अप्राप्य प्रतीत होता है, इसके विरुद्ध ज्ञानी भक्तको वह अत्यन्त समीप है ऐसा अनुभव होता है। (२०-२१) "तत् अस्य सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च" = वह इस सबके अन्दर और बाहर है, वह कहीं नहीं ऐसा नहीं। वह सबके अन्दर है इसका अर्थ वह मनुष्यके अन्दर भी है ही। अतः वह वस्तुतः अत्यन्त नजदिक है, पर भक्तिहीन मनुष्यको उसके समीप होते हुए भी अनुभव नहीं होता! [प्रथम मंत्रमें 'ईश सर्वत्र बसता है' ऐसा कहा है। वही उपदेश ४ और ५ वें मंत्रोंने अधिक स्पष्ट किया है।]

४ समबुद्धि ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

२२ यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति ।	जो वास्तवमें सब भूतोंको आत्मामें अनुभवसे देखता है,
२३ सर्वभूतेषु च आत्मानं अनुपश्यति ।	(और) सब भूतोंमें अपनेको अनुभवसे देखता है, (वह)
२४ ततः न विजुगुप्सते ।	उनका तिरस्कार नहीं करता ।

[पूर्वके दो मंत्रोंमें जो ईशके गुणोंका वर्णन किया है वह केवल शाब्दिक बोधके लिए नहीं हैं, वे मनुष्यके स्वभाव और आचरणमें आने चाहिए, मनमें ठस जाने चाहिए और कार्यमें परिणत होने चाहिए । वे आचरणमें आने लगे कि मनुष्यमें कैसी समबुद्धि पैदा होती है वह इसमें दिखाया गया है । (२२) 'यः भूतानि आत्मनि अनुपश्यति' = जो मनुष्य उत्पन्न हुए हुए सब पदार्थ, विशेषतः सर्व प्राणिमात्र, आत्माके अन्दर हैं अर्थात् आत्मा उन सबको व्याप्त होकर स्थित है, ऐसा अनुभवसे विश्वास पूर्वक जानता है; और इसी प्रकार (२३) 'सर्वभूतेषु आत्मानं' = सर्व भूतोंमें उस एक अद्वितीय आत्माको अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोंके अन्दर बाहर आत्माका विश्वास पूर्वक अनुभव लेनेके कारण, (२४) 'ततः न विजुगुप्सते' = उन भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता, उनसे दूर रहने का भाव उसके मनतकमें नहीं आता, उनके विषयमें कोईभी संदेह मनमें नहीं लाता। (वाजस० पाठः) 'ततो न विचिकित्सति' = उनके विषयमें संशय नहीं करता । सर्व भूतोंके विषयमें

५ सर्वत्र आत्मवद्भाव ।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

२५ यस्मिन् विजानतः	जहां विज्ञानीका
आत्मा एव	आत्मा ही
सर्वाणि भूतानि अभूत्;	सर्व भूत बनगया;

वह समान आत्मभाव मनमें रखता है । उसकी सर्वत्र समदृष्टि होती है । [पूर्वके ४ और ५ वें मंत्रमें कथित उपदेश आत्मसात् होनेके बाद, उस उपदेशके निरन्त ध्यान करनेसे वृत्ति तद्रूप होजानेपर प्राप्त होनेवाली उच्च भूमिका इस सम्पूर्ण मंत्रसे दिखाई है। पूर्वके मंत्रोंमें कहा अनुभव अधिक दृढ हुआ कि आगे '**सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है,**' इतनेही अनुभव पर स्थिर न रहते हुए, ज्ञानीभक्त उससे ऊपरकी भूमिका पर जाकर सर्वत्र '**आत्मैकत्व की महिमा**' प्रत्यक्ष करता है। यह अनुभव इस मंत्रने बताया है-] (२५) **वि+जानत्**' = विशेष रीतिसे जानने वाला, देखनेवाला, अनुभव लेने वाला, विशेष ज्ञानी । "**विजानतः**" ऐसे ज्ञानीके लिए '**यस्मिन्**' = जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुंच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है; '**आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत्**' = आत्माही सर्व भूत मात्र बन गई, आत्मस्वरूपही सब विश्व भासने लगा, इतना नहीं तो सर्व विश्वभी आत्माकी महिमा है, सर्व जगत् उस जगदात्मा का कौशल्य है, सृष्टिभी उसके विलक्षण सामर्थ्यकी प्रत्यक्ष साक्षी है, ऐसा जानकर अन्तमें यह पहिचाना कि सामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नहीं है । ऐसा जिसको पक्का अनुभव हुआ; उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

६ परमात्माके गुण वर्णन ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

२६ तत्र एकत्वं अनुपश्यतः	वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको
कः मोहः ?	मोह कैसा ? और
कः शोकः ?	शोकभी कैसा?
२७ स पर्यगात्,	वह सर्वत्र व्यापक है ।
अकायं	वह देह-रहित,
अस्नाविरं, अव्रणं	स्नायु-रहित, व्रणरहित,
शुद्धं, अपापविद्धं, शुक्रं;	शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी (समर्थ),

(२६) तत्र = वहां, उस अनुभवकी अवस्थामें; 'एकत्वं अनुपश्यतः'= सर्वत्र एक आत्मतत्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, 'कः मोहः, कः शोकः, ' = कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक भला दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ है ? ऐसे ज्ञानीको मोह और शोक जराभी कष्ट नहीं पहुंचा सकते, वे उसे छूभी नहीं सकते। ['ईश सर्वत्र है' ऐसा जो प्रथम मंत्रने कहा है, उसका पुनः अधिक स्पष्टीकरण इस आठवें मंत्र ने किया है, और वह 'शुद्ध, समर्थ, सर्वत्र, स्वयंभू, व्यवस्थापक है,' ऐसा यह मंत्र बतला रहा है-] (२७) 'स पर्यगात्' = वह आत्मा सब स्थानमें पहुंची हुई है, सर्व व्यापक है, वह सब जानती है, सर्वत्र है । 'अ-कायं, अस्नाविरं, अव्रणं' = वह शरीर रहित है अत एव वह स्नायु और व्रणसे रहित है। 'अ-पाप विद्धं' = वह पापोंसे ग्रस्त नहीं है। वह निष्पाप है। 'शुद्धं, शुक्रं' = वह पवित्र होनेसे

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

२८ कविः, मनीषी,	द्रष्टा, ज्ञाता (मनका स्वामी),
परिभूः, स्वयंभूः।	विजयी और स्वयंभू है।
२९ यथातथ्यतः	(उसने) योग्य रीतिसे
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः	अनादि कालसे सब
अर्थान् व्यदधात्।	अर्थोंकी व्यवस्था की है।

निष्पाप, तेजस्वी और समर्थ है। (२८) 'कविः' = (क्रान्त दर्शी) उसे अतीन्द्रिय ज्ञान है। आंखोंसे जो दीखता है उसे देखता हुआ उससे परेकाभी देखनेवाला वह कवि है। 'मनीषी' = मनको स्वाधीन रखने वाला है। 'परि-भूः' = सबसे श्रेष्ठ, सबपर प्रभाव डालने वाला। 'स्वयं-भूः' = अपनी शक्तियोंसेही स्थित होनेवाला, जिसको दूसरेकी सहायताकी गरज नहीं है ऐसी वह आत्मा है। (२९) 'अर्थः' = विषय, प्राप्त करवानेके साधन। 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्' = अनादि कालसे इन्द्रियां और उनके विषयोंको योग्य रीतिसे तथा व्यवस्थासे उसने निश्चित कर रखा है। [पूर्वके सात मंत्रोंमें दिखाया गया ज्ञान अनुभवसे आत्मसात् कर लेनेपर उस ज्ञानी भक्तकी योग्यता इस मंत्रमें वर्णन किए हुए के अनुसार हो जाती है। जीवात्मा परमेश्वरका अमृत पुत्र होनेसे, पूर्वोक्त प्रकारोंसे आत्मशक्तिका विकास करके अपने पिताके समान होता है। परमपिताके सर्व गुण पुत्रमें विकसित हुए हुए दिखते हैं। इन गुणोंका मनुष्यमें आनाही उपासक की अन्तिम सिद्धि है।]

७ ज्ञानक्षेत्र।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

३० ये अ-विद्यां उपासते	जो अनात्मज्ञानकी (ही केवल) उपासना करते हैं
ते अन्धं तमः प्रविशन्ति।	वे गाढ अंधकारमें जाते हैं।

[मनुष्यके लिए प्रपंच और परमार्थ उत्तमतया करनेके लिए जो ज्ञान आवश्यक है, वह कैसे प्राप्त किया जाए? यह बात९-११ इन तीन मंत्रोंमें कही गई है।] (३०-३१) '**विद्या**' = ईश-विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, '**अविद्या**' = अनीश-विद्या, अनात्म-विद्या, [प्रकृति-विद्या, सृष्टिविद्या, जगद्विद्या] अविद्या। प्रथम मंत्रमें '**ईशा वास्यं इदं सर्वं० जगत्** = 'ईशसे बसने योग्य यह सब जगत्' है ऐसा कहा है। यही ज्ञान अनुभव से जानना है। यही मनुष्यका 'ज्ञान-क्षेत्र' है। इसे जाननेके लिए '**ईश**' कोन है? और '**जगत्**' क्या है? इन दो बातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। '**ईश और अनीश (= जगत्)**' इन दो पदार्थोंके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ईशकी विद्या और अनीश की विद्या अर्थात् सृष्टिकी विद्या प्राप्त करनी चाहिए। आत्माका ज्ञान '**विद्या**' और आत्मासे भिन्न अनात्माका ज्ञान '**अविद्या**' है। अविद्या अर्थात् अज्ञान- ज्ञान हीनत्व-यह नहीं, क्योंकि मनुष्यके परम-कल्याणार्थ जैसे आत्मा कैसा है यह जानना चाहिए वैसे ही जगत् कैसा है यहभी जाननाही चाहिए। जगद्विद्यासे अभ्युदय-ऐहिक उत्कर्ष होता है और आत्मविद्यासे निःश्रेयस अर्थात् आत्मिक शक्तिका विकास होता है। इसलिए परम कल्याण साधनेके लिए इन दोनों विद्याओंको प्राप्त करना चाहिए। ये दोनों ही ज्ञान प्राप्त न करते हुए यदि कोई मनुष्य किसी एकही विद्यामें रम कर दूसरीकी तरफ दुर्लक्ष्य करेगा तो उसकी कैसी अव-

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳪ रताः ॥ ९ ॥

३१ ये उ विद्यायां रताः ते ततः भूयः इव तमः।	जो केवल आत्मज्ञानमें रमते हैं, वे तो उनसेभी मानो अधिक अंधकारमें जाते हैं ।

नति होती है वह इस मंत्रमें उत्तमतया दर्शाया हे । (३०) 'अविद्योपासक' = सृष्टिविद्याके ही जो केवल उपासक हैं, अर्थात् जो आत्मविद्यासे पूर्णतया दुर्लक्ष्य करके केवल सृष्टिविद्या के पीछे लगे हुए हैं, वे इस संसारमें व्यवहारके उपयोगी सुखके विपुल और उत्तमोत्तम साधन निर्माण तो कर लेंगे, पर केवल भोगेच्छा बढा लेनेसे कालान्तरसे उनकी स्वार्थी भोगतृष्णा अत्यन्त बढेगी और अतः वे अपने सुखके लिए दूसरों की बलि लेनेकी खटपट करेंगे, जिससे इनके प्रयत्नोंसे जगत्में अशान्ति बढकर दुःख बढेंगे, अतः वे 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' = गाढ अंधकारमें प्रविष्ट होते हैं ऐसा कहा है। (३१) 'विद्यारतः' = आत्म विद्यामें ही जो रमते हैं अर्थात् सृष्टि विद्याकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके केवल आत्मविद्यामें ही रमते रहते हैं और उसके सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपासकोंसे भी अधिक गाढ अंधकारमें जाते हैं । क्यों कि जीवनयात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होने वाले व्यवहारके साधन इन्हें मिलते नहीं। इस प्रकार न प्रपंच और न परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति होजाती है । [केवल सृष्टिविद्योपासक प्रंपच के साधन बढाकर कुछ तो चैन करते हैं, पर केवल आत्मविद्यामें रमने वाले और उसके सिवाय कुछ न करने वाले मनुष्य, यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया तो वे ऐहिक साधनोंके विना जीतेही न रह सकने के कारण, कुछ साध नहीं सकते। अतः उनकी अधिक खराव स्थिति होती है, ऐसा जो इस मंत्र द्वारा कहा गया है, वह सृष्टि विद्याकी गरज मनुष्य को है ऐसा दिखानेके लिए ही है ।]

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।

३२ विद्यया अन्यत् एव आहुः,	आत्मज्ञानका (फल) और (है ऐसा) कहते हैं (और)
३३ अविद्यया अन्यत् आहुः।	अनात्मज्ञानका (फल) और (है ऐसा) कहते हैं।

(३२) 'अविद्यया अन्यत्' = आत्मज्ञानसे एक भिन्न ही फल मिलता है। इस आत्मविद्यासे आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, वन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढता है, मनुष्य निर्भय होता है और सच्ची शान्तिका अनुभव मिलता है। (३३) 'अविद्यया अन्यत्' = अनात्माकी अर्थात् जगत्की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न हैं। सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्में सुखलाभकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है। जिसको अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है। इस जगत्में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब इससे मिलते हैं। इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके हैं। इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमें बहुतभारी प्रलोभन है। इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें गोता लगाकर फंस जाता है। जगत् विद्यासे ऐहिक भोगके साधन वढानेसे ऐहिक ऐश्वर्य वढता है, इस लिए जो साधारण मनुष्य इस सृष्टिविद्याके पीछे लगता है, उसे अपने भोगके साधन जितने वढें उतने वढाओ, तथा जगत्को जीतो, ऐसा प्रतीत होने लगता है। इस कारण इस प्रलोभनमें वह मनुष्य फंसता जाता है और उसे सामनेका वास्तविक कल्याणका मार्ग दीखता नहीं। इसी प्रकार जो आत्मज्ञानमें लीन हो जाता है, उसे उससे विशेष शांति मिलती है और वह और और उसमें रमता जाता है और संसारमें रहनेके लिए अर्थात् जीवन व्यतीत करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक साधनको जुटानेका कामभी

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

३४ इति धीराणां शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे ।	ऐसा हम धीरोदात्त लोकोंसे सुनते हैं जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश दिया ।

छोड देता है और अत एव धीमे धीमे उसकी इस लोककी यात्रा भी चलनी कठिन होजाती है। यदि तो उसकी औरोंने सहायता की तो तो उसे कष्ट नहीं होता, पर न की तो इस लोककी यात्रा चलनी कठिन हो जाती है। दोनों तरफ ये ऐसे दो प्रलोभन हैं। उन प्रलोभनोंका मोह हो जानेसे दोनों ही तरफ ये दो भय हैं। अतः दोनों ओरके प्रलोभनोंमें न उलझते हुए समतोल वृत्ति रखते हुए दोनों ही विद्याओंसे लाभ लेनेवाला जो ज्ञानी है, वही (३४) सच्चा 'धीर' वृत्तिवाला मनुष्य है। लाभ होने पर जो उन्मत्त होकर किंकर्तव्य विमूढ नहीं होता और हानि होने पर भी धीरता विहीन न हुआ हुआ जो कर्तव्यसे नहीं गिरता उसे 'धीर' कहते हैं। मनुष्यके सामने सदा दोनों मार्ग आते हैं। पहिला 'श्रेयमार्ग' से प्रथम कष्ट सहन करता है तो अन्तमें उसका वास्तविक कल्याण होता है और दूसरा 'प्रेयमार्ग' से प्रथम सुख अनुभव करता है तो अंतमें भयंकर आपत्ति भोगता है। इस विषयमें 'कठ उपनिषद्' में कहा है– "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ कठ उ० १।२।२" अर्थात् श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग मनुष्यके पास आते हैं, उनमेंसे श्रेय मार्गका स्वीकार धीर लोक करते हैं और प्रेय मार्गको मन्दबुद्धिवाले पसंद करते हैं और अन्तमें फंसते हैं। जो श्रेय मार्गसे जाता है वह 'धीर' है, इस धीर वृत्तिके मनुष्यको ही इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त करना आता है यह अगले मंत्रमें देखो—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

३५ यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद ।	जो आत्मज्ञान तथा अनात्मज्ञान, इन दोनोंको एकत्र जानता है, (वह)
३६ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा	अनात्मज्ञानसे मृत्युको दूर करके,
३७ विद्यया अमृतं अश्नुते ।	आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है ।

(३५) " विद्या और अविद्या " = आत्माका ज्ञान और सृष्टिका ज्ञान ये दोनों प्रकारकी विद्या मनुष्य की उन्नतिके लिए समान उपयोगी हैं । आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढता है, शान्ति मिलती है तथा मनका नित्य समाधान होता है। इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यासे ऐहिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते हैं । इस रीतिसे इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है । यह बात जिसकी समझमें आगई है वह मनुष्य (३६) ' अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा ' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे, सृष्टिके शास्त्रोंकी सहायतासे मृत्युको दूर करता है । मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु, दुःख, व्यवहारमें दैनिक कार्योंमें होनेवाली रुकावटें। ये रुकावटें ज्यों ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होते होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएंगी, और इन साधनोंसे इस क्षेत्रके दुःख कम कर लेनेके बाद (३७) ' विद्यया अमृतं अश्नुते' आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अथवा कैवल्य प्राप्त किया जा सकेगा । यह अन्तिम साध्य है । इसी अंतिम साध्यको मनुष्यने प्राप्त करना है । परन्तु केवल इतना ही साधन करूंगा और कुछ भी नहीं करूंगा ऐसा कहना योग्य नहीं है । अतः मनुष्य सृष्टिविद्या सीखकर अपनी यहांकी जीवनयात्रा

८ कर्म क्षेत्र।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।

३८ ये असंभूतिं उपासते	जो असंघभावकी (ही केवल) उपासना करते हैं, (वे)
अन्धं तमः प्रविशन्ति।	गाढ अंधकारमें जाते हैं।

सुखमय करे और आत्मविद्यासे अपने पारमार्थिक परम कल्याणको सिद्ध करे।

[प्रथम मंत्रमें 'जगत्यां जगत्' जगतीमें वर्तमान जगत्-ऐसा शब्द-प्रयोग है। 'जगत्' के समुदायको 'जगती' कहते हैं। 'जगत्' अर्थात् एक पदार्थ और 'जगती' उस ही का समुदाय है। '**व्यक्ति और समुदाय**' ऐसा जगत् है। एक पदार्थ और उसकी जाति ऐसी जगत् में स्थिति है। इसीको '**व्यष्टि और समष्टि**' ऐसा सांकेतिक शब्दसे कहते हैं। ऐसी स्थिति होनेसे व्यक्तिको समाजके लिये और समाजको व्यक्तिके लिये कुछ कर्तव्य करने आवश्यक हैं। क्यों कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे उसे जैसे अपने लायक कर्तव्य करने होते हैं उसी प्रकार जिस समाजका वह घटक है उसके लिये भी इसे कुछ कार्य करने पडते हैं। इस प्रकार '**व्यक्ति और समाज**' ये मनुष्यके 'कर्म क्षेत्र' हैं ऐसा समझा जा सकता है। इसी संबन्धका उपदेश "**संभूति और असंभूति**" इस प्रकरणमें कहा गया है। इसका विचार अब देखिए—]

(३८) '**संभूति और असंभूति**' = (सं) एक होकर (भूति) होना, रहना, उत्कर्षके लिये प्रयत्न करना, ऐश्वर्य प्राप्त करना; (सं-भूति) संघ बनाकर रहना, सहकार्य करके ऐश्वर्य वृद्धिके लिए प्रयत्न करना, '**सं-भूय समुत्थान**' = सहकारितासे व्यवहार करना, मिलकर हमला करना, संघ बनाकर संघशक्तिसे चलना, सहकारी संस्था स्थापन करके उन्नतिके लिए प्रयत्न करना। '**सं+भू**' इस धातुका अर्थ एक होकर रहना, संघ बनाना, ऐक्य करके आगे बढाना, ऐसा है। '**संभूतिः**' = संघ, जमाव,

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याः रताः ॥ १२ ॥

३९ ते ततः भूयः इव तमः ये उ संभूत्यां रताः।	वे उनसे मानो अधिक अंधकार में जाते हैं, जो वस्तुतः (केवल) संघभावमें ही रमते हैं।

समाज, संघठित समाज। विभक्तोंकी विभिन्नता दूर करके उनका संघठन करना, भिन्न भिन्न प्राकृतिक परमाणुओंको एकत्रित करके उनसे सृष्टिरूप संघटित कार्य करना, भिन्न भिन्न व्यक्तिओंका संघठन करके उनका प्रबल संघ बनाना; जाति, राष्ट्र और राष्ट्रसंघ बनाना; संघसत्ता। 'अ+संभूतिः' = असंघठित अवस्था। उपरोक्त प्रकारका संघठन न होनेपर जो स्थिति होती है वह। व्यक्तिकी स्थिति, वैयक्तिक सत्ता, ये इस शब्दके मौलिक अर्थ हैं। (३८) 'असंभूतिके उपासक' = जो असंघभावनाके-व्यक्ति सत्ताके-उपासक यानि वैयक्तिक स्वातंत्र्यकाही केवल आदर करनेवाले हैं, वे अंधकारमें जाते हैं। जो अपना संघठन जराभी न करते हुए केवल व्यक्तिकी ही उन्नति हो हुई तो बस, ऐसा मानते हैं, उनमें संघ शक्तिके न बढनेसे संघबलसे होनेवाले कार्य करनेके लिए वे सर्वथा अयोग्य होते हैं और इस कारण वे दिवसानुदिवस अवनत होते जाते हैं, क्यों कि मनुष्य संघमेंही उन्नत होने वाला प्राणी है। (३९) 'संभूतिमें रमण करनेवाले' = केवल संघभावके ही पूजक या केवल संघशक्ति बढानेके लिए व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट करने वाले जो हैं, "केवल संघसत्तावादी" भी अवनत होते हैं; क्यों कि इनके कार्यक्रममें व्यक्तिस्वातंत्र्य को जराभी स्थान न मिलनेसे और प्रत्येक व्यक्ति संघके नियमोंसे जकडा हुआ होनेसे धीरे धीरे उन्हें परतंत्र होनेकी आदत पडजाती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें परतंत्रता की जड स्थिर होती गई कि व्यक्तिस्वातंत्र्यसे होनेवाली सब उन्नतियां बन्द होजाती हैं। और अन्ततो गत्वा उस राष्ट्रकाही लय होजाता है। अत्यधिक संघसत्तावादियोंके बहु मतके कारण राष्ट्रमें सब लोकोंकी ऐसी अवनति

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

४० संभवात् अन्यत् एव आहुः ।	संघका (फल) भिन्न ही (है ऐसा) कहते हैं, (और)
४१ असंभवात् अन्यत् आहुः।	असंघभावका (फल) भिन्नही (है ऐसा) कहते हैं ।

होती है । (४०) संभवः= (संभूतिः)''= एक होकर रहना, संघभावसे समाज बनाकर संघ शक्ति को बढाना । ' संभवात् अन्यत् '= संघमें रहनेसे एक विलक्षण फल मिलता है । ' संघ-सत्ता-वाद ' का फल भिन्न है । अपना संघठन करके रहनेवालोंमें संघशक्तिका अद्भुत बल बढता है । संघशक्तिसे जो समाज सुसंघठित होता है वह जगत्में विजयी होता है । थोडेसे भी लोक संघ शक्तिसे विलक्षण कर्म करनेमें समर्थ होते हैं । यह इस संघसत्ता वादमें बडाभारी प्रलोभन है । (४१) ' अ+ संभवः = (असंभूतिः) ' = असंघभाव अर्थात् व्यक्ति सत्तावाद; प्रत्येक व्यक्ति भी भिन्न भिन्न सत्तावाली है, प्रत्येक व्यक्तिको अपअपनी यथा संभव उन्नति करनी चाहिए और सुधार करना चाहिए, और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुई कि सर्व जनता स्वयं ही उन्नत हो जाएगी । अतः व्यक्तिको समाज-के नियमोंसे बांध कर संघ बनाने की जरूरत नहीं है, ऐसा जो मानते हैं वे ' व्यक्ति सत्तावादी लोक ' हैं । इनके इस मतानुसार चलनेवाले लोक प्रत्येक व्यक्तिको उसकी इच्छानुसार पराकाष्ठातक उन्नति करनेके लिए पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं, जिससे कईयोंके वैयक्तिक गुण खूब उन्नत होते हैं और इस कारण इस मतमें आदर्श व्यक्ति तैयार हो सकती है । इस व्यक्ति सत्तावादमें यह प्रलोभन है । [समाज सत्तावादसे संघशक्तिके निर्माण होनेका लाभ यद्यपि है परन्तु व्यक्ति भी समाज रूपी यंत्र का एक भाग होनेसे वह दिवसानुदिवस परतंत्र होता जाता है जिससे वैयक्तिक उन्नति बंद हो जाती है यह इसमें हानि है। इसके विरुद्ध व्यक्तिसत्तावादमें

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।

४२ इति धीराणां शुश्रुम ये नः तत् विचचक्षिरे ।	ऐसा धीरोदात्तोंसे सुनते हैं, जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश किया ।
४३ यः संभूतिं च विनाशं च तत् उभयं सह वेद ।	जो संघभाव और असंघभाव इन दोनोंको एकत्र जानता है, (वह)

वैयक्तिक गुण खूब विकसित होते हैं, पर लोकोंमें संघशक्ति न बढनेसे इस दृष्टिसे हानि होती है । अतः दोनों मतोंका समतोल दृष्टिसे विचार करके दोनोंही मतोंमेंसे उत्तम बातको अपनाकर अपना मार्ग जो देखता है वह सच्चा 'धीर' है] (४२) ऐसे 'धीर' पुरुषोंको इन दोनों मार्गोंमें कोई विलक्षण गुण दीखता है, जिससे ये लोक दोनों ही मार्गोंमेंसे गुण लेते हुए तथा दोष छोडते हुए अपने पुरुषार्थसे अपने परम कल्याणको प्राप्त कर लेते हैं । ये किस प्रकार अपना कल्याण साधते हैं यह बात अगले मंत्रमें दर्शाई है उस मंत्रका उत्तम विचार अब एकाग्रतापूर्वक देखिए—

(४३) 'संभूति' = संघशक्तिसे रहना; संघनिष्ठाभी समाजनिष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसत्तावाद-निष्ठा, इन शब्दोंसे दिखाई जाती है । संघशक्तिसे क्या लाभ हैं और उसके विना क्या क्या हानियां हैं यह भी पिछली टिप्पणीमें दिखाया गया है । इस मंत्रमें दोनोंमेंसे हानिको कैसे दूर करके दोनोंसे लाभ कैसे लेना चाहिये यह दिखाया है । "विनाश" यह शब्द इस मंत्रमें 'असंभूति' शब्दके लिए आया है । 'असंभूति' का अर्थ 'संघसत्ता' की विरोधी 'व्यक्तिसत्ता' है । इस वैयक्तिक सत्ताके लिए इस मंत्रमें 'विनाश' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है । 'विनाश' शब्दके दो अर्थ हैं- (१) 'विगतः नाशः यस्मात्' = जिसका नाश

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

४४ विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा	असंघभावसे मृत्युको दूर करके,
४५ संभूत्या अमृतं अश्नुते।	संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है।

नहीं होता ऐसा; अथवा (२) 'विशेषेण नाशः' = विशेषनाश। थे दोनों परस्पर विरोधी अर्थ इस शब्दमें हैं। '**व्यक्तिके मरते रहने पर भी संघ अमर रहता है**' यह नियम हम संसारमें देख रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य मरता है, पर संघ दृष्टिसे समाज सदा जीवित रहता है; इस लिए (४४-४५) संघभावसे रहते हुए "**संभूत्या अमृतं अश्नुते**" अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है और यदि संघ टूट कर उसका प्रत्येक घटक भिन्न भिन्न होगया और उनकी संघ शक्ति नष्ट होगई तो एक एक व्यक्ति थोडेही समयमें नष्ट हो जायगा। संघका विभाग करते करते अंतमें '**एक व्यक्ति**' पर आकर ठहर जाना पडता है। इससे आगे विभाग नहीं हो सकता। इसका इससे आगे और विभाग नहीं हो सकता इस लिए व्यक्ति को '**अविभज्य**' अर्थात् '**इससे आगे विभाग करना असंभव**' ऐसा कहा जाता है। इस व्यक्तिके लिए '**अहं**' (**अ+हं = अ+हन् = अ+हा** = जिसका आगे हनन नहीं होता, जिसका इससे आगे नाश नहीं होता, ऐसा) यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है। "**अविभज्यता**" (In-dividuality) की दृष्टिसे व्यक्तिका इससे आगे नाश होना संभव नहीं। इस प्रकार प्रथम अर्थ ही यहां संगत है। व्यक्तिको स्व-सत्ता स्थिर रखनेके लिए वह अपमृत्युसे न मरे और अन्य कष्ट भी वह न भोगे, इसलिए वैयक्तिक स्वास्थ्य संरक्षणके कर्म व्यक्तिको करने पडते हैं। उन्हें करता हुआ व्यक्ति '**मृत्युं तीर्त्वा**' = अपमृत्युसे अपना बचाव कर सकता है; और '**संभूत्या अमृतं अश्नुते**' = संघ शक्तिसे अमर होता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा और संघनिष्ठा इन दोनोंके विना होनेवा-

९ सत्यधर्मका दर्शन ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

४६ हिरण्मयेन पात्रेण	सोने के पात्र से
सत्यस्य मुखं अपिहितम्	सत्यका मुख ढका हुआ है ।

-की हानियोंको दूर करके दोनोंसे मनुष्य लाभ उठा सकता है यह इस मंत्र ने दर्शाया है। संघ पंचमुखी परमेश्वरही है। इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। संघठित संघके विषयमें ऐसी निष्ठा रखते हुए उसकी आत्मशक्ति अभेद्य ऐक्यसे सुदृढ करनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें संघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहने परभी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी संघके लिए आत्मसमर्पणरूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करती हुई अर्थात् स्वतः संघरूप-विश्वात्मरूप-बनती हुई अमरत्व प्राप्त कर सकेगी। मनुष्योंका 'कर्मक्षेत्र' इन तीन मंत्रोंने दर्शाया है। (वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें ये तीन मंत्र पहिले तथा विद्या अविद्याके बादमें हैं।) (सब आत्मोन्नति अपरिग्रहवृत्तिसे होती है। अपरिग्रहका अर्थ है निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना। परिग्रहका अर्थ है अपना सुख बढानेके लिये सुख साधनोंको अपने पास इकठ्ठा करना। यही सुवर्णका प्रलोभन है। इसके नीचे सब धर्मनियम दब जाते हैं, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मको जान नहीं सकता। इस प्रलोभनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है- (४६) **'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं अपिहितम्'**= सुवर्णके चमकीले बरतनसे सत्यका मुख ढका हुआ है। सोनेके नीचे सत्य छिपा पडा है। यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है। अपराध करने परभी अधिकारियोंको घूंस देकर उसे छिपाया जा सकता है। घूंस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत थोडे हैं। घूंस लुचाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनीय व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है।

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

४७ हे पूषन् !	हे पोषक !
सत्यधर्माय दृष्टये	सत्यका धर्म देखनेके लिए
तत् त्वं अपावृणु ।	उसे तूं खोल दे ।

(४७) "सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु" = सत्यधर्मका दर्शन करनेके लिए उस ढक्कनको तू दूर कर। सुवर्णका ढक्कन दूर होनेके बाद सत्यधर्म दीखने लगेगा। व्यवहारमें घूंस खोरी की ओर ध्यान न देनेवाले अधिकारीही स्वकर्ममें दक्ष रहते हुए सत्यकी खोज कर सकनेमें समर्थ होते हैं। इसका कारण यह है कि वे इस सुवर्णपात्रको एक ओर सरका देते हैं। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। '**सत्यधर्मका पालन करनेकी इच्छा हो तो सुवर्णका लोभ छोडना चाहिए।**' यह सुवर्ण नियम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमेंभी सर्वथा सत्य है। '**राष्ट्रधर्म पालन करना हो तो सुवर्णका लोभ त्यागना चाहिए।**' सुवर्णके लोभसे फूटे हुए मनुष्योंसे कितना नाश होता है यह इतिहास बता रहा है। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। इसका वास्तवमें अर्थ ऐसा है- (४६-४७)- परमात्मा '**सत्य स्वरूप है।**' उसपर इस सृष्टिका चमकीला आच्छादन पडा हुआ है। उसको विना दूर किए उस सत्यस्वरूप परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। जिसे उसके दर्शन करने हों उसे इस सृष्टिके मोहसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। जिसे अपनी आत्माकी शक्ति वढानी हो उसे प्राकृतिक मोहजालमें फंसना नहीं चाहिए।

[वाजसनेयी-माध्यंदिन संहितामें इस मंत्रका उत्तरार्ध नहीं है, और इसके स्थानमें '**योऽसावादित्ये०**' यह मंत्र है। इसका अर्थ मंत्र० १६ की टिप्पणीमें देखो।]

१० उपासना ।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।

४८ पूषन्, एक ऋषे,	हे पोषक ! एक द्रष्टा !
यम, सूर्य	नियामक ! तेजप्रदाता !
प्राजापत्य !	प्रजापालक !
४९ रश्मीन् व्यूह,	(तेरी) किरणें एकत्र करके,
समूह ।	एक ओर कर ।
५० यत् ते कल्याणतमं	जो तेरा अत्यंत कल्याणकारी

(४८) परमात्मा ' पूषन् ' = सबका पोषक है । वह ' एक ' है और वह ' ऋषि ' = ज्ञाता, ज्ञानी, सर्वज्ञ और अतीन्द्रियार्थदर्शी है । वही ' यम ' = सबका नियामक, सबको अपने नियमोंमें रखनेवाला, 'सूर्य'= तेज देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला, और ' प्राजापत्य ' = जो प्रजाओंका पालन करनेवाला है वह प्रजापति । प्रजापतिसे उत्पन्न होनेवाले प्राजापत्य अर्थात् उसके सामर्थ्य । इन सब सामर्थ्योंसे युक्त वह देव है । इस देवको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे इस मंत्रमें पुकारा है । ' हे पोषक, नियामक, तेजस्वी, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञदेव ! मेरी सहायता कर । (४९) ' रश्मीन् व्यूह समूह ' = किरणोंको इकठ्ठा करके एक ओर कर। हे देव! इस जगत्की इस चकचकाहटके कारण मुझे तेरा रूप दिखता नहीं, जहां देखता हूं वहीं इस प्रकृतिकी चकचकाहट नजर आती है । उससे परे वर्तमान तेरा रूप दिखता नहीं । इसवास्ते ये तेरी किरणें एक ओर कर, और

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

तेजोरूपं,	तेजोमय रूप है,
तत् ते पश्यामि ।	वह तेरा रूप मैं देखता हूं ।
५१ यः असौ असौ पुरुषः	जो यह प्राणोंमें पुरुष है
सः अहं अस्मि ।	वह मैं हूं।

मुझे तेरा रूप दीखे, उसके लिये तूही मेरे पर दया करके मेरी आंखोंको चका चौंध करनेवाले ये तेरे तेज दूर कर, तूने ऐसा किया कि (५०)'ते कल्याणतमं तेजोरूपं पश्यामि ' = तेरे अत्यन्त कल्याणमय तेजस्वी स्वरूपको मैं देखता हूं । हे देव ! तूं ही कृपा कर और अपना रूप दिखा । तेरी कृपा के विना तेरा मङ्गलमय और कल्याणमय रूप मुझे दीख नहीं सकता । (५१) ' यः असौ असौ पुरुषः ' = जो यह तेरे (असौ-असुमें) प्राण शक्तिके आधारसे रहनेवाला और (पुरुषः = पुरि+वसति) इस शरीररूपी नगरीमें रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला, शरीर धारणकर परम पुरुषार्थ करनेकी इच्छा वाला जो तेरा भक्त है ' सः अहं अस्मि ' = वही मैं हूं । मैं तेरा एकनिष्ठ भक्त हूं, मुझे भक्त मानता हुआ तूं ' अपना ' मान । (इस मंत्रके पहिले दो भाग वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें नहीं हैं । मंत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है- " योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओं खं ब्रह्म ॥ १७ ॥ " यह मंत्र भाग वहां १७ वां है और ' हिरण्मयेन० ' इस मंत्रका उत्तरार्ध है । इसका अर्थ- " (यः असौ) जो यह (आदित्ये पुरुषः) आदित्यमें पुरुष है , (सः असौ अहम्) वह यह मैं हूं, (ओं खं ब्रह्म) ब्रह्म आकाशकी तरह व्यापक ओंकार द्वारा दिखाया जाता है "] इस मंत्रमें कहे गए अनुसार भक्तको परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए ।

११ आत्म-परीक्षण ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।

५२ वायुः अन्-इलं अमृतम् ।	प्राण अपार्थिव अमृत है ।
५३ अथ इदं शरीरं भस्मान्तम् ।	और यह शरीर अन्तमें भस्म होनेवाला है ।
५४ क्रतो ! ओं स्मर ।	हे कर्मकर्ता पुरुष! सर्व रक्षक आत्मा का ध्यान कर ।

(५२) हे मनुष्य ! यदि तुझे उन्नत होना है तो तू यह लक्ष्यमें रख कि- (वायुः) यह हमारा प्राण (अन्+इलं अ+मृतं) अपार्थिव अमृत रूप प्रचण्ड शक्ति है । (५३) और (इदं शरीरं भस्म+अन्तं) ये शरीर मात्र अंतमें भस्म होनेवाला है । अतः मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी विशेष आराधना करनी उचित है । मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू (असौ पुरुषः= जीव-आत्मा) है । तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन हैं । इन साधनोंकी सहायतासे तुझे अपने अमरपनेका अनुभव लेना है । "इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है ।" इसवास्ते (५४) हे "क्रतो" = कर्म करनेवाले पुरुष ! कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! 'ओं स्मर' = (अवति इति ओम्) उस सर्व रक्षक परमात्माका ध्यान कर । उसके गुणोंका चिन्तन कर । उसके कल्याण-मय गुणोंको निदिध्यासनसे अपने आत्मबुद्धिमन में नित्यप्रति बढा । 'कृतं स्मर' = रोज प्रातः सायं तूने जो कोई कर्म किए हुए हों उनका स्मरण कर । ध्यान पूर्वक विचार करके देख कि तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले हैं अथवा अवनति । दिनभर किएहुए कर्मों-

ओ३म् क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ॥ १७ ॥

कृतं स्मर	किए हुए कर्मोंका स्मरण कर।
क्रतो ! स्मर	हे कर्म करनेवाले पुरुष! स्मरण कर
कृतं स्मर	किए हुए कर्मोंका स्मरण कर।

का निरीक्षण सायंकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण सवेरे कर। इस प्रकार अपने आचरणोंकी परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षक बन; जिससे कि तेरी कहां भूल है और वहां तुझे वास्तवमें क्या करना चाहिए था यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा। "हमें अपने आप अपना उद्धार करना चाहिए। जिनसे अपनी अवनति होती हो ऐसे आचरण हमें कभी भी करने नहीं चाहिए।" [वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें यह मंत्र १५ वां है। और इसके द्वितीयार्धमें "क्लिबे स्मर" ऐसा अधिक पाठ है। 'क्लिब्, क्लिप्, क्लृप्' इनका अर्थ 'समर्थ होना, योग्य होना' ऐसा है। अतः 'क्लिबे स्मर' = अर्थात् 'अपने सामर्थ्यकी वृद्धिके लिए यह स्मरण कर।' अपने आप समर्थ होनेके लिए ऊपर कहे गए अनुसार 'ईश-स्मरण कर और स्वयं कृत कर्मोंका स्मरण कर।' अपने उद्धारके लिए इस श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन कर।] रोज हम क्या करते हैं इस बातका निरीक्षण करना, यह आत्मपरीक्षण आत्मोन्नति के लिए अत्यंत सहायक है। इसके विना किसी भी प्रकार की उन्नति होनी, संभव नहीं। साधकका शरीर पोषण तक इस परीक्षण के विना नहीं होगा। अतः हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्मपरीक्षणके विना नहीं होगी, इस प्रकार पृथक् कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। इस वास्ते यह आत्मनिरीक्षण करना चाहिए ऐसा जो यहां खास करके कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि उसकी ओर साधक कदापि दुर्लक्ष्य न करे।

१२ प्रार्थना।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो

५५ अग्ने! अस्मान् सुपथा राये नय।	हे प्रकाशक! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयको प्राप्त करा।
५६ देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान्।	हे देव! तूं सब कर्म जानता है।
५७ अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि।	हमारे पाससे सब कुटिल पाप दूर कर।

(५५) हे 'अग्ने' = प्रकाश देनेवाले ईश्वर! 'अस्मान् सुपथा राये नय' = हमें अच्छे मार्गसे अभ्युदयको प्राप्त करा। हमारेमें कुमार्गसे जानेकी बुद्धि कभी भी न हो। धन मिले, चाहे न मिले, पर हमारे आचरणका मार्ग शुद्धही हो। हे देव! तू (५६) 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'=हमारे सर्व कर्म जानता है। तुझे पता न चले इस प्रकार छिपकरके भी कर्म करने असंभव हैं। क्यों कि तू सर्व साक्षी, सर्वज्ञ होता हुआ सर्वत्र है। इस कारण हम जो कुछ करते हैं चाहे वह कितनाभी चुपकेसे छिपकर किया गया हो, तो भी वह तुझे उसी समय पता लग जाता है। इतना ही नहीं, मनमें आया हुआ संकल्पभी तुझे मालूम हो जाता है। ऐसी दशामें हम तेरेसे छिपाकर कुछभी नहीं कर सकते। हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोंका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार हो, उस श्रेष्ठ और शुद्ध

भूयिष्ठां ते नम उक्तिँ विधेम ॥ १८ ॥

५८ ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम ।	तेरी विशेष नमन पूर्वक स्तुति हम करते हैं ।

मार्गसे तूं हमें ले चल। हमारेमें कुटिलता और पापभाव भरे हुए हैं। वे, (५७) 'जुहुराणं एनः अस्मत् युयोधि' = कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर। इन पापोंके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमें शक्ति दे ! (५८) इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे 'नमः विधेम' = नमस्कार करते हैं। तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कार करनेके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। हे देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर।

" ओं । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओं । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥



परमेश्वरका नाम संकीर्तन।



हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरके नामोंका संकीर्तन विशेष रूपसे किया हुआ सर्वत्र मिलता है। वेदोंमें 'अनेक नामोंसे एकही सद्वस्तुके वर्णन किए हुए हैं'। (ऋ. १। १६४। ४६)। उपनिषदोंमें भी यही प्रतिपादित है। इतिहास और पुराणोंमें भी यह संकीर्तन भिन्न रीतिसे आया हुआ है। इस छोटीसी ईशोपनिषद्में भी पुनः पुनः "परमात्म-गुणवर्णन" ही आया है। ऐसा जहां तहां परमात्माके गुणोंका संकीर्तन क्यों किया हुआ है? इस प्रश्नका विचार करना उपयुक्त है। इस संबन्धका मूल सिद्धान्त क्या है, उसे समझे विना इस नाम संकीर्तनका महत्त्व समझमें आना कठिन है, इस लिए इस विषयमें संक्षेपसे दो शब्द यहां कहने हैं।

सबसे पहिले बहुतसी प्रास्ताविक ऊहापोह न करते हुए वैदिक धर्मकी एक मूल भूत बात यहां कहनी चाहिए और वह यह है कि "परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र हैं।" यह कल्पना इस नाम संकीर्तनका मूलआधार है। मैं परमेश्वर का पुत्र हूं और परमेश्वर मेरा पिता है, यह कल्पना मनमें ठस जानेके दूसरे ही क्षणमें दूसरी कल्पना मनमें आती है, और वह यह कि 'पुत्र उन्नत होते होते कभी न कभी अपने पिताके सदृश हो जाएगा,' इस नियमानुसार परमेश्वरके भी पुत्र उन्नत होनेके मार्गमें हैं और वे कभी न कभी परमेश्वरके सदृश 'स्वतंत्र (मुक्त)' होंगे। इस विचार द्वारा आगेका सिद्धान्त हमारे ध्यानमें आ सकेगा—

(१) परमेश्वर सबका परम पिता है।
(२) हम सब उसके अमृत पुत्र हैं,
(३) पिताके गुणधर्म अंशरूपसे जन्मतः पुत्रोंमें होते ही हैं,
(४) पुत्रके गुण धर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिता के समान होता है,
(५) पुत्रके बढनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी तो वह उन्नतिकी परम सीमा हर एकको प्राप्त होगी ही।

जिन अर्थोंमें पिता पुत्रके गुणधर्म, पितामें पूर्णत्वको पहुंचे हुए हैं और पुत्रमें अंशरूप से हैं, तो वे समान ही हैं, उन अर्थोंमें जो गुण-बोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहिए, इसमें संदेह नहीं। जैसे 'द्रष्टा (देखनेवाला), श्रोता (सुननेवाला)' इत्यादि नाम केवल गुण बोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वैसे ही पुत्र के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी एकदम सत्य है और इसी लिए वेद, उपनिषद् तथा इतर धर्म ग्रथोंमें पर-मेश्वर के जो गुण संकीर्तन किए हुए हैं वे यदि परमेश्वरका पूर्ण तया वर्णन कर रहे हैं तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे। जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है यह जैसे आज परमे-श्वरका सत्य वर्णन है तो जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उस काभी यही वर्णन होगा। और इस समय भी थोडी देरके लिए परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' को तथा जीवकी शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो ज्ञातृत्व शक्ति दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूर्णतया परमेश्वरके लिए लगता है वैसेही वह अंश रूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है। इससे पता चलता है कि हमारे धर्म ग्रथोंमें पर-

मेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण वर्णन जीवात्माको उन उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे हैं, और इसी लिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह निःसंदेह है।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्वके कार्य किए' इत्यादि प्रकारके बडोंके वर्णन लडकोंके सुनेपर उनके अन्तःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें' ऐसा भाव उठना एकदम स्वाभाविक है। यह हमारेमें उन्नति करलेनेकी स्फूर्ति-उत्तेजना नामसंकीर्तनसे होती है और वह जिस प्रकारसे वैसी होती रहे उसी प्रकारसे इन नामोंका स्मरण करते रहना चाहिए।

वेदोंमें जिन देवताओंका वर्णन है और उनमें जो परमेश्वरके वर्णन हैं, वे सब उपरोक्त कथनानुसार मनुष्यमें उन्नतिकी स्फूर्ति उत्पन्न करने तथा उसे उन्नतिके मार्गमें लगानेके लिए हैं। जैसे परमात्माका अंश यहांपर जीवरूपसे आया हुआ है वैसेही अग्नि वायु, सूर्य, आदि तेंतीस देवता अंशरूपसे इस जीवात्माके साथ साथ शरीरमें आकर इन्द्रियों और अवयवोंमें बसे हुए हैं। इसलिए चाहे किसीभी देवताका वर्णन हो तोभी वह हमारे शरीरमें स्थित अंशभूतकाभी वह सूक्ष्म रूपसे वर्णन है ही। वन जलानेवाले दावानलका वर्णन छोटीसी चिनगारीकाभी अंशरूपसे है ही। इसी प्रकार यहांभी समझना चाहिए। इससे यह बात ध्यानमें आती है कि हमारे वेदादि धर्म ग्रंथोंमें परमेश्वरका तथा इन देवताओंका वर्णनभी ब्रह्माण्ड व्यापी शक्तिका वर्णन होता हुआ वही पिण्डव्यापक अल्पशक्तिकाभी है, और वह पिण्डमें उन उन अविकसित शक्तियोंको बढाकर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश दे रहा है। इस प्रत्येक वर्णनसे मनुष्यको बोध लेते हुए यथा संभव अपने आचरणमें उसे घटाना है। इस बोधका कैसे पताचले इस बातको बतानेके

लिए आगे कोष्ठोंमें उसको डालकर दर्शाया गया है, जिससे पाठक सुगमतासे जान सकें। मूल वाक्य दर्शानेके लिए ऊपर मंत्राङ्क दिया है। अर्थात् उस उस अङ्कवाले मंत्रका वह मूल वाक्य है।

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करने योग्य बोध।



परमात्माके वर्णन ।	मनुष्यके ग्रहण करने योग्य बोध ।
(शान्ति मंत्र)	
१ अदः पूर्णम् । (वह ब्रह्म पूर्ण है)	१ मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे । (इस जन्ममें कुछ नहीं,तो किसी एक अच्छी बातमें पूर्णत्व संपादन करे ।)
२ ओम् । (वह रक्षक है)	२ आत्मसंरक्षण की शक्ति शरीरमें लाकर पीडा देनेवाले प्राणियोंसे पीडितोंका संरक्षण करे।
(मंत्र० १)	
३ ईशा इदं सर्वं वास्यं । (ईश्वरसे यह सब वसने योग्य है । ईश्वर ईश होकर सर्वत्र बसा हुआ है)	३ अपनी शक्तिपर स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार करे । गुलाम वृत्तिमें रहते हुए अपने दिवस न बिताए ।

(मंत्र० ४)

४ अन्-एजत् । (वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं)	४ किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपना छोड दे ।
५ एकम् । (वह एक, अद्वितीय है ।)	५ जगत्में अद्वितीय बने, (किसी भी एक विद्यामें तो अवश्य अद्वितीय बने ।)
६ मनसः जवीयः । (वह मनसे वेगवान् है)	६ अपना वेग बढावे, आलस्य दूर करे ।
७ देवाः एनत् न आप्नुवन् । (देव उसे प्राप्त नहीं कर सकते, वह देवोंके चलते हुए भी उनसे अप्राप्य है)	७ अपनी साधनायें दूसरे सहसा समझलें ऐसी थोथी न करे । (अथवा स्वयं दूसरोंका संचालक बने, पर उनसे स्वयं न घेरा जावे ऐसे सुरक्षित स्थान पर रहे ।)
८ पूर्वम् । (वह सबसे प्रथम, पूर्वसे है)	८ सबसे प्रथम स्वयं कार्य आरंभ करे । (इस काममें यह प्रथम है ऐसा कहावे ।)
९ अर्षत् (वह ज्ञानी अथवा स्फूर्ति देनेवाला है)	९ ज्ञान प्राप्त करे और जनतामें स्फूर्ति बढावे ।
१० तिष्ठत् । (वह स्थिर है)	१० अपना पाया मजबूत करे । अपने स्थानपर स्थिर रहे । (युद्धमें अपना स्थान न छोडे)

११ तत् धावतः अन्यान् अत्येति । (वह दौडनेवाले दूसरोंके आगे जाता है)	११ सब स्पर्धा करनेवाले पीछे रह जावें और स्वयं उनसे आगे निकल जाए ऐसी अपनी तैयारी करे ।
१२ तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति । (इसके आधारसे जीव कर्म धारण करता है)	१२ अपने आप स्वयं कर्म करे और दूसरोंसे कर्म करावे ।

(मंत्र ५)

१३ तत् एजति तत् न एजति। (वह दूसरोंको चलाता है, पर स्वयं हिलता नहीं)	१३ स्वयं अपने स्थान पर स्थिर रहे और दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करके उन्हें सत्कर्मों में प्रवृत्त करावे ।
१४ तत् दूरे तत् उ अन्तिके। (वह अज्ञानीके लिए दूर तथा ज्ञानीके लिए समीप है)	१४ दुर्जनोंसे दूर रहे और सदा सज्जनोंके पास रहे ।
१५ तत् सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च । (वह सबके अन्दर और बाहर है)	१५ अपनी अन्दरकी तथा बाहिरकी अवस्थाओंका निरीक्षण करे ।

मंत्र ६

१६ सर्वाणि भूतानि आत्मनि, आत्माच सर्व भूतेषु । (सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है)	१६ सबके सुखमें अपना सुख है ऐसा माने और अपनी शक्तिसे सबको सुखी करना अपना कर्तव्य है ऐसा समझे ।

(मंत्र ७)

१७ आत्मा एव सर्वाणि भूतानि । (आत्माही सर्वभूत है)	१७ मैं सर्व जनताके लिए हूं ऐसा समझता हुआ व्यवहार करे ।

(मंत्र ८)

१८ सः परि-अगात् । (वह सर्वत्र गया हुआ है)	१८ स्वयं अपने सब कार्यक्षेत्रों का निरीक्षण करे ।
१९ अकायं, अस्नाविरम् । (वह देह रहित, स्नायु रहित है)	१९ शरीरकी स्थूल शक्तिको चलानेवाली आत्मिक शक्ति बढावे ।
२० अव्रणम् । (वह व्रणरहित है)	२० व्रण, घाव आदि न होवें ऐसा आरोग्य प्राप्त करे ।
२१ शुद्धं, शुक्रम् । (वह पवित्र और वीर्यवान् है)	२१ पवित्र और वीर्यवान् बने ।

२२ अपापविद्धम् । (वह पापसे विद्ध हुआ हुआ नहीं है)	२२ पापसे विद्ध मत हो ! (पाप मत कर)
२३ कविः । (वह अतीन्द्रियार्थदर्शी है)	२३ मनुष्य केवल स्थूलदर्शी न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे ।
२४ मनीषी । (वह मनका स्वामी है, विचार शील है)	२४ हमें मनका संयम करना चाहिए तथा विचार पूर्वक कर्तव्य करने चाहिए ।
२५ परिभूः । (वह सर्वसे श्रेष्ठ अथवा विजयी है)	२५ अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए, विजय प्राप्त जिससे होसके ऐसी अपनी शक्ति बढानी चाहिए ।
२६ स्वयंभूः । (वह अपनी शक्तिसे स्थित है)	२६ अपनी शक्तिसे रहे, परावलम्बी न बने ।
२७ याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् । (करने योग्य कार्य वह करता रहता है)	२७ कर्तव्य जैसे करने चाहिए। वैसे विना भूल चूकके करता रहे !

(मंत्र १६)

२८ पूषा । (वह पोषक है)	२८ गरीब-असमर्थोंका पालन पोषण करना चाहिए ।

२९ एक ऋषिः । (वह एक, ज्ञानी है)	२९ विशेष ज्ञान संपादन करे ।
३० यमः । (वह नियामक है)	३० हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त करें, नियामक बनें ।
३१ सूर्यः । (वह प्रकाशक है)	३१ दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग दिखावें ।
३२ प्राजापत्यः । (वह पालक शक्तिसे युक्त है)	३२ आश्रितों का उत्तम रीतिसे पालन करे ।
३३ कल्याणतमं रूपम् । (उसका रूप अत्यंत कल्याणमय है)	३३ नित्य प्रसन्न चित्तसे व्यवहार करे

(मंत्र १८)

३४ सुपथा रायिं नय(ति) । (वह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यके पास ले जाता है)	३४ स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तम मार्गसे उन्नतिको पहुंचाए ।
३५ विश्वानि वयुनानि विद्वान्। (वह सर्व कर्म जानता है)	३५ सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका योग्य ज्ञान प्राप्त करे ।
३६ जुहुराणं एनः युध्यते । (वह कुटिलता और पापसे युद्ध करता है)	३६ कुटिलता और पापसे (सत्यका पक्ष लेते हुए) युद्ध करके उनका पराभव करे ।

सूचना

यहां पर जो ईशोपनिषद्के मंत्रोंसे लेने लायक बोध दिया गया है, वह उस सूचक मंत्रसे उतनाही मिलता है ऐसा किसीकोभी यहां समझना नहीं चाहिए। मंत्रका अर्थ मनमें समझकर उसका थोडा थोडा मनन करनेसे परमेश्वरके गुणोंका ज्ञान धीरे धीरे स्वयं होने लगेगा। परमेश्वर इस विश्वव्यापक संसारमें जैसे प्रचण्ड कार्य अतुल स्व शक्तिसे कर रहा है वैसे थोडेसे कार्य हमें हमारे छोटेसे क्षेत्रमें करते हुए अपने पिताके समान बननेका प्रयत्न करना चाहिए।

येही कर्म मनुष्यको जन्मसे मृत्युपर्यन्त करने हैं और इसी कर्म मार्गसे अपनी उन्नति साधनी है। परमेश्वरके गुणोंका शांत चित्तसे जितना अधिक मनन होगा, उतना अधिक स्वकर्तव्योंका स्फुरण साधकको होगा; और इस मार्गसे जाते जाते साधकका स्वभावभी वैसा बन जाएगा। और ज्यों ही साधकका स्वभाव वैसा बनगया अर्थात् वह स्वाभाविकतया अकृत्रिमतासे वैसे कर्म करने लग गया कि वह साध्यके समीप समीप पहुंचने लगा ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है। 'परमेश्वरके नाम तराते हैं' यह कैसे, यह इस विवेचनसे समझा जा सकता है। वेदमंत्रोंमें ईश वर्णनका यह ऐसा उपयोग साधकके लिए है। इस प्रकार वेदमंत्रोंका अर्थ ज्ञान पूर्वक विचार करके बोध प्राप्त करनेसे 'वेदका एकाध सूक्त अथवा एक मंत्र या आधा मंत्र किंवा परमेश्वरका एक नामही मनुष्यको परम उत्कर्षके लिए पर्याप्त है,' ऐसा जो समझा जाता है। वह कितना यथार्थ है, यह पाठकोंके ध्यानमें आएगा। अब हम ईशोपनिषद्का थोडीसी भिन्न रीतिसे मनन करते हैं-

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिका मार्ग ।

(१) मनुष्यका साध्य ।

मनुष्यका साध्य 'तीन शांति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है। (१) वैयक्तिक शान्ति—शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें किसीभी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहां पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही "आध्यात्मिक शांति" कहते हैं। योगादि साधन इसी अनुभवके लिएही हैं। (२)सामाजिक शान्ति—समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापनी, यह दूसरा साध्य मनुष्यको साधना होता है। सर्व प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावको तथा विचार और आचारको बढानेसेभी यह शान्ति स्थापित हो सकती है। इसेही आधिभौतिक शान्ति कहते हैं। (३) जागतिक शांति-सब चलाचल जगत्में शान्ति और समताका स्थापन करना यह अन्तिम साध्य है। इसे 'आधिदैविक शान्ति' कहते हैं। प्रत्येक मनुष्यको ये त्रिविध साध्य साधने हैं। इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए "शान्तिः शान्तिः शान्तिः" इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है। (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन ।

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं। इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है। ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंसे कर्म किए जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए 'ज्ञान-क्षेत्र' और कर्मेन्द्रियोंके लिए 'कर्म-क्षेत्र' है। जगत्में जानने योग्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत है। पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ संसारमें हैं। अतः इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना यह ज्ञान-क्षेत्रका साध्य है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस अन्तःकरण चतुष्टयसे यह ज्ञान प्राप्त करना है। 'ईशा वास्यं इदं' (मं०१) 'ईश व्याप्त करता है इस सृष्टिको' ऐसा जो प्रथम मंत्र में कहा है, उससे हमारा ज्ञान क्षेत्र व्यक्त हो रहा है। 'ईश' शब्दसे 'आत्मा या परमात्मा' और 'इदं' शब्दसे 'सृष्टि, जगत्, अथवा संसार' इनका बोध होता है। मनुष्यको जो ज्ञान प्राप्त करना है वह इसी सम्बन्धमें है। अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंको प्राप्त करलेना जरूरी है। सृष्टि विज्ञानसे 'अभ्युदय' और आत्मज्ञानसे 'निःश्रेयस' प्राप्त हो सकता है। और इन दोनोंको साध लिया कि मनुष्य कृतार्थ हुआ ऐसा माननेमें किसीभी प्रकारकी आपत्ति नहीं दीखती। मनुष्य इनमेंसे कोईसा एक सुगमतासे साध सकता है। विशेषतः ऐहिक उन्नति प्रत्यक्ष होनेसे उसे प्रत्येक प्राप्त करनेकी कोशिश करता है। ईशोपनिषद्में 'ज्ञानक्षेत्र' सबन्धी तीन (९-११) मंत्रोंने दोनों विद्यायें प्राप्त करके ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति विना विरोधके किस प्रकार साधनी चाहिए, यह उत्तमतया दिखाया है।

(२) कर्म-मार्ग।

ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद वह ज्ञान कर्म द्वारा प्रकट होना चाहिए। इसके विना ज्ञानका उचित उपयोग होना संभव नहीं।

' खाना अर्थात् पेट भरना, ' ऐसा ज्ञान होनेपर खानेके कर्म करने ही पडते हैं। ठीक ऐसा यहां परभी समझना चाहिए। परमेश्वर पूर्ण और सर्वज्ञ होनेसे इस जगत्में उसके श्रेष्ठ कर्म सर्वत्र जारी हैं। उसी प्रकार मनुष्यको जितना जितना ज्ञान प्राप्त होता जाएगा, उतना उतना उसका कर्मक्षेत्र बढता जाएगा, यह सुस्पष्ट ही है। दोनोंके सम्बन्धसे कर्म उत्पन्न होते हैं। इस जगत्में ' जगत्यां जगत् ' (मं० १) जगतीके आधारसे जगत् है, अर्थात् संघके आधारसे व्यक्ति है, अथवा समष्टिके आधारसे व्यष्टि है। अतः इस सम्बन्धके होनेके कारण व्यक्तिको समाजके लिए कर्म करनेही चाहिए। इसके सिवाय गत्यन्तर नहीं। व्यक्तिमेंभी आत्मा और शरीरका सम्बन्ध होनेसे शरीरको आत्माके लिए और आत्माको शरीरके लिए कुछ एक कर्म करने आवश्यक हैं। परमात्मा सर्व जगत्में होनेसे वह सर्व जगत्को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म सर्वदा कर रहा है ही। अतः मनुष्यकोभी उसके लिए अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक हैं। इस प्रकार दोनोंका जहां संबन्ध पडता है वहां एकका दूसरेसे जो सम्बन्ध बनता है, उस संबन्धसे परस्परके कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। इन्हें करनेपर उन्नति और न करनेपर अवनति होती है। सारांश रूपसे मनुष्यके कर्मक्षेत्रका यह स्वरूप है।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सम विकास करना है। शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, इस प्रकारकी अनेक शक्तियां हैं। स्थूल शक्ति अधिक बढानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियां क्षीण होती हैं। इस लिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनु-

ष्यका प्रथम कर्तव्य है । मनुष्यके अंदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही "अध्यात्म शक्ति" है ऐसा कहते हैं और इन शक्तियोंका विकास करनाही 'आध्यात्मिक शक्ति-विकास' ऐसा कहा जाता है । 'वाक्...प्राणः...चक्षुः...श्रोत्रं... इत्यध्यात्मम् । (छां० उ० ३।१८।२)' वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, इत्यादि शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियां हैं। इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है। स्थूल शक्तियां वढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायक बनें और सूक्ष्म शक्तियां बढकर स्थूल शक्तियोंकी योग्य मददगार बनें, इसका नाम है समविकास । 'आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र' का मतलब वैयक्तिक शक्तियोंके बढानेका कार्यक्षेत्र है ।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र ।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढती जाएगी, त्यों त्यों उसके बाह्य कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जाति, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकसे एक उसकी अन्तःशक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे । मनुष्य व्यक्ति यदि सम्पूर्ण समष्टिके आधारसे स्थित है तो व्यक्तिकी शक्तिका उतना पूर्ण विकास होनेसे पूर्व वह समष्टिके कार्यके लिए योग्य नहीं हो सकती। अतः जितनी शक्ति बढाई जाएगी और तदनुसार कार्यक्षेत्रकी मर्यादामें अपने कर्तव्यका भाग मनुष्यने किया कि वे उसके कर्तव्य कर्म उसकी उन्नतिमें सहायक होते हैं। यह मनुष्यका "आधिभौतिक कर्तव्य क्षेत्र" है। भूत अर्थात् प्राणी । इन प्राणियोंके संबन्धमें जो कर्तव्य हैं वे आधिभौतिक कर्तव्य हैं । अपने आध्यात्मिक कर्तव्य करते हुए अपनी वैयक्तिक उन्नति जिस प्रकार मनुष्य कर सकता है, उसी प्रकार उससे जनताके अर्थात् संघके हित साधनेके पवित्र कार्य योग्य रीतिसे होने संभव हैं, यह इससे विशद होता है, इस ओर पाठक उचित ध्यान दें ।

(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र ।

इससे अगला कार्य विश्वके सम्बन्धमें जो कुछ मनुष्यके करने लायक है वह है। इस जगत्में जो कोई विश्वशक्ति है, उस शक्तिसे व्यक्ति और संघकी सहायता करवालेना, अग्नि, जल, वायु, विद्युत् इत्यादि सर्व दैवी प्रचण्ड शक्तियां हैं उन्हें अनुकूल करके उनसे जनता और व्यक्तिके हितके कार्य करालेना, इसे 'आधिदैविक कार्यक्षेत्र' कहते हैं ।

(७) यज्ञ और अयज्ञ ।

मनुष्यको इन त्रिविध कार्यक्षेत्रोंमें अनेक कर्तव्य करने हैं। और उनद्वारा वैयक्तिक तथा सामुदायिक सुख और शान्ति प्राप्त करने हैं। यह मनुष्यके कार्यक्षेत्रकी व्याप्ति है। वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य करते हुए व्यक्तिके हितके लिए समाजके हितका अर्थात् व्यष्टिके हितके लिए समष्टिके हितका नाश होना नहीं चाहिए। इस ओर विशेष लक्ष्य देना चाहिए। व्यक्तिको समष्टिके लिए आत्मसमर्पण करना यह 'यज्ञ' और व्यक्तिका स्वतःके लिए समष्टिके हितका नाश करना यह 'अयज्ञ' है। यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति और अयज्ञसे अवनति होती है। ऊपर जो 'जगत्यां जगत्' (मं०१)= समष्टिके आधारसे व्यक्ति है, ऐसा कहा है उसका उद्देश यही है। जिस आधारसे व्यक्ति स्थित है, उस आधारको अपने सुखकेलिए उसी व्यक्तिको सर्वदाके लिए नष्ट नहीं कर देना चाहिए, क्यों कि उस आधारका नाश हुआ तो फिर वह व्यक्ति कहां रहेगी? अतः अपने आधारको अपने आप नष्ट करनेका मतलब अपने आप अपना नाश करना है। अयज्ञसे जो नाश होता है वह इस प्रकार है।

(८) कर्म, अकर्म और विकर्म ।

व्यक्ति और संघके कर्तव्योंका कार्यक्रम परस्पर अविरोध होते हुए किस प्रकार होना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण ' कर्मक्षेत्र ' के तीन मंत्रोंमें किया है । उसके अनुसार प्रत्येकको अपने कर्तव्य करने चाहिए। केवल अस्तित्वके लिए ही जो कर्तव्य करने हैं उनका नाम ' अकर्म ' है । क्यों कि उनका परिणाम व्यक्ति तक सीमित है। ['अकर्म' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है।] जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करने वाले हैं और जो परोपकार बुद्धिसे किए हुए हैं, उनका नाम ' कर्म ' है । इसेही ' यज्ञ ' कहते हैं । यज्ञ वाचक सब शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द हैं और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म हैं, उन्हें ' विकर्म ' अर्थात् विरुद्ध कर्म या जो नहीं करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते हैं। अकर्म तथा कर्म, ये दोनों अविरोध पूर्वक करनेही चाहिए। केवल विकर्म न करने चाहिए। कर्म क्षेत्रोंमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी व्यापक है, और ' अकर्म-कर्म-विकर्म' किसीको भी समझना इतना कठिन है कि कभी कभी विद्वान् लोक भी चक्कर खा जाते हैं, अतः ' कर्मकी गति गहन है ' (भ० गी० ४।१७) ऐसा कहा गया है । तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म पहिचान कर उन्हें योग्य रीतिसे करना यह मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी लिए ' कुर्वन्नेवेह कर्माणि ' (मं० २)= ' कर्म करने चाहिए,' ऐसा उपदेश किया गया है । इस मंत्रमें कर्म करने चाहिए ऐसा जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह ऊपर दिखाया गया है । व्यक्ति और संघकी उन्नति करने वाले जो यज्ञरूप कर्म हैं, वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए ' जिजीविषेच्छतं समाः ' । (मं० २)= ' सौ वर्ष जीए ' । यह उपदेश मनन करने लायक है।

' न कर्म लिप्यते नरे '। (मं० २) = कर्मोंका लेप मनुष्यको नहीं लगता ' ऐसा जो कहा है, वे ये ही यज्ञरूप कर्म हैं। ये मनुष्यको पवित्र करते हैं, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते हैं।

इस प्रकार ' ज्ञान और कर्म ' इन दो साधनोंका साधकको कैसे उपदेश करना चाहिए और उन द्वारा आत्मोद्धार कैसे कर लेना चाहिए यह यहां दिखाया गया है। ये दो, एकहीकी दाईं और बाईं बाजू हैं, अथवा एकही उन्नतिके रथके ये दोनों पहिये हैं। इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर समीपतया आक्रमण होता गया कि मनुष्यका विकास होकर, उसे अंतमें जो पद प्राप्त करना है वहां वह पहुंच जाता है।

(९) अमरत्व प्राप्तिका मार्ग।

' कर्मक्षेत्र ' का वर्णन करने वाले जो (१२-१४) मंत्र हैं उनमें " वैयक्तिक कर्मों द्वारा अपना विनाश दूर करके, संघनिष्ठा द्वारा समुदायके लिए कर्म करते हुए अमृतत्वको प्राप्त करे" (मं०१४) ऐसा कहा हुआ है। इसका थोडासा यहां मनन करना चाहिए। संघनिष्ठाका क्या अर्थ है और उससे अमरत्व कैसे प्राप्त होता है, यह यहां विचार करने योग्य प्रश्न है। संघनिष्ठ पुरुष यदि वास्तवमें अमर होता है तो क्या चोर डाकु कहीं किसीसे कम संघनिष्ठ नहीं हैं? ऐसी अवस्थामें यहां ' संघनिष्ठा ' शब्दसे क्या दिखाया गया है इसका विशेष विचार करना चाहिए। इन (१२-१४) मंत्रोंके अर्थमें " संघभाव और असंघभाव " ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। यहां ' भाव ' शब्दका अभिप्राय भक्ति ऐसा समझना चाहिए।

भाव अथवा भक्ति केवल ईश्वर परही रखनी चाहिए। ईश्वर हमारा पूज्य पिता है और उसके हम 'अमृत पुत्र' हैं। अथर्व वेदमें "अनुव्रतः पितुः पुत्रः" (अथर्व० ३।३०।२) 'पिताके कार्य आगे चलानेवाला पुत्र होवे' ऐसा कहा है। इस नियमानुसार हम सब यदि परमेश्वरके पुत्र हैं, तो उसके चलाए हुए कार्योंको आगे चलाना या उसके कार्योंका भाग हमें अपने ऊपर लेकर उसे योग्य रीतिसे पूर्ण करना यह हमारा कर्तव्य ठहरता है।

ईश्वरके कौनसे कार्य जगत्में चले हुए हैं? ईश्वरके तीन प्रकारके कार्य यहां प्रचलित हैं। 'सज्जनोंका संरक्षण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संस्थापन।' (भ० गी० ४।८) ये तीन प्रकारके कार्य परमेश्वर कर रहा है ऐसा सब आर्यशास्त्र कह रहे हैं। येही कार्य हमने किए, या इन कार्योंमें भाग लिया तो हम परमेश्वरके कार्य आगे चला रहे हैं ऐसा होगा। यही उसकी भक्ति या सेवा है। परमेश्वकी भक्ति अथवा सेवा करनी चाहिए ऐसा जो माना जाता है, वह सेवा यही है। 'भक्ति, भजन,' इन शब्दोंका अर्थ 'सेवा और सेवन' यही है। (भज्-सेवायां। भज् धातुका अर्थ सेवा करना है) पिताकी सेवा पुत्रको करनी चाहिए का अर्थही यह है कि पिताद्वारा चलाए गए कार्योंमें अपना भाग बटाना चाहिए। सेवक यही कार्य मालिकके लिए करता है। ईश्वरके सेवकको भी यही कार्य परमेश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य करने चाहिए।

'सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोंका शासन और मानवधर्मकी स्थापना' ये ईश्वरके कार्य हमें करने चाहिए, यही भक्ति है। और इन कामोंका करना यह सच्चा 'भक्ति मार्ग' है। अपनी शक्तिके जोरपर अनेक प्रकारके दुःख दुर्जन अशक्तोंको देते हैं। उन दुःखोंसे अशक्तोंका संरक्षण करके उन्हें सुखी करना यह 'जनतामें जनार्दनकी उपासना' करना है। विद्यासे, शक्तिसे, अधिकार

से वा धनसे सम्पन्नोंकी सेवा करनेकी जरूरत नहीं है, क्यों कि उनके गुणोंसे उनकी सेवा करने वाले उन्हें चाहिए इतने मिल सकते हैं। परन्तु जो विद्वान् नहीं है, बलाढ्य नहीं है, अधिकारी नहीं है, या धनवान् नहीं है, उसे कोई सहायक नहीं मिलता। अतः ऐसे दीन जनकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह 'ईश्वरकी सेवा' है। दीनोंकी दया यह संतोंका मूल धन है, (तुकाराम)। इसी मूल धनसे यह भक्तिका व्यापार करना है। जो संघभावना, संघनिष्ठा या संघोपासना अथवा संभूतिकी उपासना इस ईशोपनिषद्में कही है वह यही है। ईश्वर 'दीनोद्धारक' है। इसी दीन जनोद्धारणके कार्यका करना जन संघकी उपासना है। 'गुरुकी सेवा करनी चाहिए' अर्थात् गुरुको किसीभी बातकी कमी पडने नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् उनका दीनपना हटाकर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारार्थ जो कुछ करना आवश्यक हो वह करना चाहिए।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है। दुःखितोंके दुःख देखकर अन्तःकरण खिन्न होना चाहिए यह इसीलिए ही है। इस विषयमें अथर्व वेदका मंत्र देखिए—

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥
अथर्व० २।३४।३॥

" जो तेजस्वी लोक बद्ध मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते है, उन्हेंही प्रजाजनके साथ रमण करने वाला विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे मुक्त करता है।

इस मंत्रमेंभी यही कहा है कि दीन, दुःखी, बद्ध और परतंत्र लोकोंपर जो लोक दया करते हैं, उनकी दीनता दूर करनेके लिए

अविश्रांत परिश्रम करते हैं, उन्हेंही सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) वह मुक्त करता है, क्यों कि विश्व निर्माता देव (प्रजया संरराणः) जनतामें रहता हुआ उसके आनन्दसे आनन्दित होनेवाला है। इसीलिए वह जनताको दुष्टोंसे दुःखी देखकर खिन्न होता है और उन दुष्टोंके दलनके लिए प्रेरणा करता है। 'संघभक्ति' क्या है, वे कैसे करनी चाहिए, और उसे करनेसे (अमृतत्वं) अमरपना कैसे प्राप्त होता है, यह इस विवेचनसे ध्यानमें आया होगा।

वेद प्रतिपादित 'भक्तिमार्ग' यह है। जिस मनुष्यकी जितनी योग्यता होगी, उतने अधिकारक्षेत्रमें वह कार्य कर सकेगा। एकाध वैद्य निर्धन रोगीका योग्य औषधोपचार करके अच्छा करके मैने ईश्वर सेवा की ऐसा समझ सकता है। दूसरा कोई तृषितको थोडा जल देकर वैसीही ईश्वर सेवा कर सकता है। कोई वीर परतंत्र देशको पीडित करने वाले शत्रुको दूर करके जनताको स्वतंत्र करके परमेश्वरकी सेवा की ऐसा समझ सकता है।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। (भ०गी०१८।४६)

स्वकर्मोंसे ईश्वरकी उपासना करके सिद्धि प्राप्त करने का यह मार्ग है। ये कर्तव्य क्षेत्र विविध हैं और कर्ताकी पुरुषार्थ शक्तिके अनुसार उसके कर्तव्य भी अनेक हैं, परन्तु उन सबका तत्त्व 'जनतामें जनार्दनकी सेवा' यही एक है। यही 'भक्तिमार्ग' है और पूर्वोक्त 'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग' ये दोनों मार्ग इसके अन्तर्हित होते हैं। इस मार्गसे जानेवाला भक्तही सरल और जल्दी मुक्त होता है, यह उपरोक्त अथर्व वचनसे स्पष्ट प्रतिपादित है।

आजकल प्रचलित भक्तिमार्गमें इस जनसंघोपासनासे ईश्वर भक्ति होती है ऐसा कोईभी नहीं मानता, और केवल "नाम-स्मरण" ही तारक है ऐसा माना जाता है। वह यद्यपि अन्तःशुद्धि मात्रके लिए ठीक होगा तथापि ईश्वरकी बहिरंग उपासना वे नहीं

करते अतः उनके कार्य आधे होते हैं। (तत् उ अन्तः बाह्यतः च। मं० ५) ईश्वर अन्दर है और बाहिरभी है, नाम स्मरणसे यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई तो उस 'नाम' से दिखाए गए कर्तव्य बहिस्थ जनतामें जनार्दनके लिए उसे करनेही चाहिए। और तभी कर्तव्योंकी आन्तरिक और बाह्य पूर्णता होनी संभव है। एक अन्तर्यामीके कर्तव्य किए तो आधा कार्य हुआ। दूसरे बहिस्थके कर्तव्य होनेतक कार्य पूर्णही न होनेसे चाहे कुछभी हो, उन बाह्य कर्तव्योंके न कर लेनेतक वह मनुष्य मुक्त होनेवाला नहीं।

अब यहां एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि 'जन संघ भक्ति' अथवा संभूतिकी भक्ति या पृथिवीपर संपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे हो सकती है? वस्तुतः 'संभूति' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है। किसीभी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुंचाना संभव नहीं। इस लिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत करनेसे, उससे जितनी जन संघ सेवा होगी, उतनी वह जनार्दनके अर्पण होगी और उतनी उसकी उन्नतिमें सहायक होगी। यच्च यावत् प्राणियों तक उसकी सेवा पहुंचनी कोई जरूरी नहीं है। केवल उसकी संघ भक्तिसे अधर्म बढना नहीं चाहिए। इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए। इतना करनेपर सब सिद्धी है।

राक्षसभी संघोपासक थे, परन्तु वे अपने संघबलसे दूसरोंका नाश करके अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करनेके कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढानेके कारणीभूत होते थे। इसलिए ऐसे प्रयत्नोंसे अधोगति होती है। 'दुष्ट सब दूर हों, अथवा दुष्टोंकी वृत्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और धर्मका उत्कर्ष हो'। इस दिशामें जो संघकी भक्ति होती है वही उद्धारक है। इसमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु

सर्वत्र शांति प्रसरे, मानव धर्मका उत्कर्ष हो और सब लोक सुखी हों, इस दृष्टिसे प्रयत्न करना है। इसी कर्तव्यकी दिशा इस उपनिषद्ने संभूति प्रकरणद्वारा दर्शायी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारंभ अहिंसासे अर्थात् भूतदयासे होकर अंत 'सर्वस्व समर्पण' में होता है। इससे राक्षसी स्वार्थको इस धर्ममें जराभी स्थान नहीं है यह जरा समझने लायक बात है।

सत्यनिष्ठा।

जगत्में शान्तिकी स्थापना करना यह मनुष्यका साध्य है। और इस साध्यको साधनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन साधन हैं। इन तीनों साधनोंका दुरुपयोग न हो इसलिए 'सत्य' की कसौटी मनुष्यको सदा अपने पास रखनी चाहिए ऐसा पंद्रहवें मंत्रने सूचित किया है। 'सुवर्णका मोह छोड, एकदम सत्य दिखेगा'। और सत्य पकडतेही तेरा पोषण होगा इत्यादि भावार्थ इस मंत्रमें हैं। 'लोभ छोडना चाहिए ऐसा कहनेके कारण संघभक्तिमेंसे सब राक्षसी स्वार्थसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थ दूर होगए हैं, ऐसा समझनेमें कोई रुकावट प्रतीत नहीं होती।

ऐसी इस निर्लोभ सत्यनिष्ठासे पवित्र हुए हुए ज्ञान, कर्म और भक्तिसे सर्वत्र शांति स्थापित करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सिंहावलोकन।

'हमने जो कुछ किया उसका क्या परिणाम हुआ, वह हमारे उद्धारके लिए सहायक हुआ है वा नहीं, कौनसे प्रतिबन्ध आए हैं, इसका सिंहावलोकन करते हुए उपरोक्त मार्गका अनुसरण करना चाहिए' ऐसा पुनः १७ वें मंत्रमें बताया है। 'कृतं स्मर' =

'हमने क्या किया है वह देखो और फिर आगे जो कुछ करना है वह करो'। यह उपदेश सबकोही सदा कर्तव्य करते हुए ध्यान-में रखनेसे लाभदायक है।

इस प्रकार ईशोपनिषद्‌के मुख्य उपदेशोंका मनन पूरा हुआ। इसका इस रीतिसे अधिक विचार करके साधक अपनी उन्नति करते रहें। शेष उपदेश यद्यपि विशेष बोधप्रद हैं पर वह सुगम-तासे समझने योग्य होनेसे उसका यहां अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया हैं।

वेदका आदेश।

कितने लोक ऐसा समझते हैं कि वेदके मंत्रभागोंमें 'आज्ञा' (विधि) नहीं है। 'मनुष्य! तू अमूक कर और अमूक मत कर' ऐसी स्पष्ट आज्ञा नहीं है, ऐसा जो समझते हैं, उसका अर्थ इतना ही है कि सब संहिताओंमें सभी आज्ञार्थक वाक्य नहीं हैं। परन्तु वेदोंमें पुष्कल आज्ञायें हैं –

(१) मा गृधः = लोभ मत कर।

(२) त्यक्तेन भुञ्जीथाः = दानसे भोग कर।

(३) कृतं स्मर = किए हुए कृत्योंका स्मरण कर।

इत्यादि आज्ञा इस ईशोपनिषद्‌में (अर्थात् यजुः अ० ४०मेंही) हैं। उन्हें देखने पर वेदमें आज्ञायें नहीं है ऐसा किसीकोभी सम-झना नहीं चाहिए। परन्तु जो लोक, आज्ञायें नहीं हैं ऐसा मानते हैं, उसका अर्थ यह है कि–उन्हें चाहिए उतनी आज्ञायें वेदमें नहीं हैं। 'आज्ञा होनेपर ही काम करना, नहीं तो नहीं' यह वृत्ति गुलाम (दास) मनुष्यों की है।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक स्फूर्तिसे काम करता है। लोकोंको गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः वह किसीको बहुतसी आज्ञा नहीं करता; परन्तु वह ऐसी शब्द योजना करके वर्णन

करता है कि उससे मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वयं स्फूर्ति होवे और वह अपनी अन्तःस्फूर्तिसे स्वतंत्रतासे अपने कर्तव्य करे तथा अपनी उन्नति करले ।

इससे पाठकोंको पता चलेगा कि वेदमंत्रमें आज्ञार्थक प्रयोग बहुतसे नहीं हैं, यह उलटी वैदिक धर्मके महत्वको बढानेवाली बात है । 'इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है' ऐसा कहते ही, 'हमें अपना बल बढाकर शत्रुका नाश करना चाहिए' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है । इसी प्रकार वेदोंमें जिस देवताकी स्तुति है वह उपासकके अन्तःकरणमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिए ही है । अतः वह आज्ञा नभी हुई तोभी आज्ञाकाही काम करती है । इतनाही नहीं बल्कि उसका परिणाम उससे भी अधिक बडा होता है, यह विचारनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा । इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसापरक मंत्र अत्यन्त महत्वके हैं । इस हमारी ईशोपनिषद्में बहुतसे मंत्र 'आत्मा' देवताकी प्रशंसा परक हैं । केवल तृतीय मंत्र 'आत्मघातक' लोकोंकी निन्दा परक है । इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मंत्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते हैं । 'अमुक मत करो' ऐसी निषेधक आज्ञा न करते हुए 'ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है' ऐसा वेदमंत्रोंमें कहा हुआ है । यह निन्दा सुनकर ऐसे अधोगतिकारक कर्म न करने चाहिए ऐसी स्वाभाविक इच्छा मनमें उत्पन्न होती है । स्तुतिके मंत्रोंसे मनुष्योंकी सत्कर्मोंकी ओर प्रेरणा तथा निन्दाके मंत्रोंसे हीन कर्मोंकी ओरसे निवृत्ति होती है । मनुष्यको दुष्टकर्मोंसे निवृत्त करते हुए सत्कर्मोंमें प्रवृत्त कराना यह धर्मका उद्देश इस प्रकारसे वैदिक धर्मने साधा है । आज्ञा करके मनुष्योंमें गुलामीका भाव डालनेकी अपेक्षा इस प्रकारसे मनुष्यकी अन्तः-प्रवृतिको ही बदलना यह सर्वथा श्रेयस्करही है, ऐसा सुगमतया

समझा जा सकता है।

अब वेदके सम्बन्धमें दूसरी एक बात यहां ध्यानमें रखने जैसी है। और वह यह कि वेदमें 'प्रशंसा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत अधिक होती हुई 'निन्दा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत थोडी है। हमारी इस छोटीसी उपनिषद्में अठारह मंत्रोंमेंसे केवल एकही मंत्र निन्दापरक है, शेष सब मंत्र प्रशंसात्मक हैं। इसका कारण यह है कि 'मनुष्यका मन जिस बातका अधिक मनन करता है तदनुसार वह बनता है।' मनका यह धर्म है। इसलिए मनके सामने कौनसी बात लानी चाहिए और कौनसी नहीं, इस विषयमें अत्यधिक विचार करना चाहिए। निषेध रूपमेंभी यदि बुरी कल्पना मनके सामने आवे तो भी उनका बुरा परिणाम मनपर होता है। बुरी बुरी कल्पनायें निषेधरूपमें बार बार मनके सामने आनेसे उनका प्रभाव धीरे धीरे मनपर पडता जाता है और अन्तमें वह स्थिर रूपसे मनपर जम जाता है। इसवास्ते निषेधकी आज्ञायेंभी बहुत थोडी होनी चाहिए और वे ऐसी भाषामें होनी चाहिए कि उनका यथा संभव कम प्रभाव पडे। 'बुरी बात मत करो' ऐसा कहनेमें प्रथम बुरी बातकी कल्पना मनुष्यको दीगई और फिर उसका निषेध किया गया। इसलिए ऐसे ऐसे निषेध बारंबार मनके सामने आने लगे कि उनका अच्छा परिणाम होनेके बदले अनिष्ट परिणाम आधिक्यसे होगा। इसीलिए मनके इस धर्मका विचार करते हुए वेदमें बुरी बातोंके निषेधोंकेभी मंत्र बहुत थोडे हैं और प्रशंसाके मंत्र प्रकाशके धर्मकी स्फूर्ति देनेवाले होनेसे अधिक हैं। हमारी ईशोपनिषद्में अथवा यजुर्वेदके ४० वें अध्यायमें १७ मंत्र प्रशंसापरक हैं और सिर्फ एक मंत्र निन्दापरक है।

उपदेशभी केवल 'सत्यधर्मकी दृष्टि' (मं० १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लिए ही करना चाहिए और वह सत्यकी प्रशंसा

करके किया जाना चाहिए न कि असत्यका निषेध करते हुए। वेदके उपदेशमें यह विवेक अवश्य विचारणीय है। इस बातको अधिक स्पष्ट करने के लिए ईशोपनिषद् का उपदेश सर्वथा सरल शब्दोंमें नीचे दिया जाता है। भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोंमें थोडासा परिवर्तनभी किया है। कहां क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दीए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आसकता है। यह परिवर्तन इसवास्ते किया गया है ताकि किस मंत्रसे किस भावनाकी जाग्रति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें जल्दी आ सके।

उपनिषद्का भावार्थ।

शान्ति मंत्र।

वह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है। यद्यपि उस पूर्णसे यहभी पूर्ण पैदा होता है तो भी वह जैसाका तैसाही परिपूर्ण रहता है, उसमें कुछभी न्यूनता नहीं आती।

आत्मज्ञान।

(१) वह आत्मा ईश बनकर इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त है। इस जगत्में संघके आधारसे व्यक्ति स्थित है। अतः व्यक्तिको अपने स्वार्थका त्याग (यज्ञ) संघके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भोग करे। लोभ न करे। धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनसंघका है।

(२) इस जगत्में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्ष तक जीनेका प्रयत्न करे। यह इतनाही मनुष्यका धर्म है; इसे ध्यानमें रखना चाहिए। इसके सिवाय दूसरा उन्नतिका मार्ग नहीं।

सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता ।

(३) केवल शारीरिक शक्तिके लिए ही प्रसिद्ध कुछ लोक हैं, परन्तु उनमें आत्मिक ज्ञान जराभी नहीं है। जो आत्मघातकी लोक हैं वे मरनेके बाद और जीतेजीभी, ऐसेही लोकोंमें गिने जाते हैं।

(४) वह आत्मा अद्वितीय, स्थिर, सबसे प्रथम, द्रष्टा, और मनकाभी प्रेरक है। वह इन्द्रियोंको नहीं दीखता। सब वेगवान् पदार्थोंकी अपेक्षाभी उसका वेग अधिक है। उसके आधारसेही मनुष्य अपअपने कर्म धारण करता रहता है।

(५) वह स्वयं नहीं हिलता तोभी सबको चलाता है। वह दूर होता हुआभी सबके एकदम पास है। वह सबके अन्दर और बाहिर भी है।

(६) जो सर्व प्राणियोंको आत्मामें और आत्माको सब प्राणियोंमें देखता है वह किसीका भी तिरस्कार करता नहीं है।

(७) जिस समय आत्माही सब भूत बनगया ऐसा अनुभव आया कि उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव प्रतीत होनेसे उसे किसीभी कारणसे शोक अथवा मोह नहीं होता।

(८) वह सर्व व्यापक है। वह देह रहित, स्नायु और व्रणसे रहित है। उसी प्रकार वह शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, मनका स्वामी, विजयी और स्वयंभू है, और वह सदा सब कर्तव्य योग्य रीतिसे करता रहता है।

(९) जो केवल जगत्की विद्याकेही पीछे लग जाते हैं वे अवनत होते हैं। इसी प्रकार जो केवल आत्माकी विद्याके पीछे लग जाते हैं वेभी अवनत होते हैं।

(१०) जगत्की विद्याका फल और आत्माकी विद्याका फल और है, ऐसा विचारशील उपदेशकोंका कहना है।

(११) जगत्की विद्या और आत्माकी विद्या ये दोनोंही उपयोगी हैं। जगत्की विद्यासे प्रापंचिक (सांसारिक) दुःख दूर करे और आत्माकी विद्यासे अमर होवे ।

(१२) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तितकही सीमित है वे अधोगतिको प्राप्त करते हैं और जिनकी दृष्टि केवल संघतक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते हैं ।

(१३) व्यक्तितक दृष्टिको सीमित रखनेसे और लाभ होता है और संघतक सीमित रखनेसे और। ऐसा विचारशील उपदेशक कहते हैं ।

(१४) व्यक्तिका हित और संघका हित इन दोनोंको साधना चाहिए। व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके संघसेवनसे अमर होवे ।

(१५) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे बन्द हुआ हुआ है । अतः यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए ।

(१६) हे पोषक! सर्वज्ञ और नियामक प्रजापति देव ! तेरी किरणें एक ओर कर और अपना मंगलमय रूप मुझे दिखा, वह मुझे देखना है । शरीरधारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उन्नति होनेवाला तेरा उपासक हूं ।

(१७) प्राण अपार्थिव अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है । अतः हे जीव ! ओंकारका जप कर और अपने किए हुए कर्मोंपर विचार कर ।

(१८) हे देव ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयके पास लेजा। तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है । हमारेसे कुटिल पापोंको दूर कर। इसके लिए हम तुझे नमस्कार करते हैं ।

यह ईशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है। भाषान्तर पूर्व दिया हुआ है ही। यह यहां पुनः देकर द्विरुक्तिका दोष यद्यपि हुआ है तथापि किन्हीं मंत्रोंका आशय केवल भाषान्तरसे एकदम ध्यानमें नहीं आसकता, अतः यह दौडते हुए शब्दोंसे यहां केवल रूपान्तर दिया है। इस आत्म सूक्तमें मुख्यतः आत्माके गुणवर्णन हैं तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, आज्ञा, याचना, आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमें हैं, इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तर सहायक होगा यह निःसंदेह है। आज्ञा और निन्दा कितनी थोडी है और प्रशंसा कितनी अधिक है, इनकी तुलना यहां देखने लायक है। बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी तो एकदम थोडी। बुरे शब्दोंसे जीभको जरासाभी खराब करना नहीं चाहिए। सुविचारके शब्दही उच्चारने चाहिए। यही वेदका आशय है। देखिए—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। ऋ० १।८९।८॥

"अच्छी बातें कानोंसे सुनें और अच्छीही आंखोंसे देखें।" किसीभी तरहसे, निषेध करनेके लिएभी बुराईका स्मरणतक न करें। वेदमें स्तुति और प्रशंसापरक मंत्र अधिक तथा निन्दा और आज्ञापरक एकदम कम हैं, इसका यही कारण है। मनका स्वभावधर्म 'मननसे तद्रूप होनेका' होनेसे वेदोंने प्रशंसनीय दिशा ही लोकोंके सामने रखी है। सत्यकी पहिचान करवानेका यह उद्देश्य है। सत्यके सिवाय शेष जो कुछ है वह असत्यही है। उसका वर्णन करके मनको कलुषित करनेसे क्या लाभ? इसके अतिरिक्त 'सत्य एक' होनेसे उसको कहा जा सकता है पर असत्योंकी गणना करके कहना असंभव है। उदाहरणार्थ एक और एक कितने होते हैं? इस प्रकार उत्तर एकमात्र सत्य 'दो' है। इसके

सिवाय शेष सब संख्याएं असत्य उत्तर हैं। ऐसी दशामें उन सब असत्य उत्तरोंका कहना कठिन है पर इस प्रश्नका एक मात्र सत्य उत्तर 'दो' अति सुगमतासे प्रकट किया जा सकता है। यही बात सब विषयोंके सत्यासत्यके कथनमें समझनी चाहिए।

उपरोक्त मंत्रोंमें जो स्तुतिविषयक मंत्र हैं, वे परमात्माके गुणोंकी प्रशंसा कर रहे हैं। परन्तु कभी न कभी इस उपासककी आत्मा उन गुणोंसे युक्त होनेवाली है अतः 'हमारे अन्दर विद्यमान आत्माके भावी स्वरूपका वर्णन' यह है, अथवा 'सोऽहं' (मं० १६)= वह मैं हूं, ऐसा समझते हुए वह वर्णन पढनेसे हमारी उन्नति कितनी हुई है और कितनी होनी है यह उससे ठीक ठीक पता चलेगी। इसके अतिरिक्त आत्माका वर्णन पढकर, वह क्या करती है यह देखे और हमसे तत्सदृश क्या हो सकेगा, यह पता करे। इस प्रकार करनेसे अपना कर्ममार्ग पर किस प्रकार आक्रमण करना चाहिए इसका ज्ञान हर एकको हो सकता है।

तीन मार्ग।

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग हैं। इन्हें एकही स्तुति विषयक मंत्रमें अथवा सूक्तमें कैसे समजा जा सकता है यह अब देखिए। उपरोक्त सूक्तमें (१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माको, उसके पूर्णत्वको प्राप्त कर लेनेके बादकी अवस्था का है क्यों कि 'सोऽहं(मं०१६)' = 'वह मैं' होनेसे वह वर्णन जैसा उसका है वैसाही मेराभी है, ऐसा समझते हुए यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, 'ज्ञान मार्ग' है। (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे समझकर तत्सदृश कर्म 'स (इव) अहं' = 'उसके सदृश मैं'

होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निर्दोषपूर्ण करते रहना यह 'कर्ममार्ग' है। इसविषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह मंत्रखण्डोंसे कोष्टक द्वारा पूर्व दिया गया है। (३) इन दोनों मार्गोंमें कुछ समानताका नाता दिखाया जाता है। जगत्में परमेश्वरके जो महानसे महान कार्य चल रहे हैं उनमेंसे यथा संभव भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे बटाना, उससे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छा की जराभी इच्छा न रखते हुए '(तस्य दासोऽहं)' = 'उसका मैं अनुचर हूं' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसेभी की गई सेवाको परमेश्वरकोही अर्पण करना, यह 'भक्तिमार्ग' है। एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीन मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करने वालेको सुगमतया समझमें आ सकते हैं। आधुनिक समयमें ये मार्ग प्रचलित हुए हैं यह बात नहीं है; अपितु वेदमें पूर्वसेही इस प्रकारसे हैं। इस हमारी ईशोपनिषद्के मंत्रोंसे ये तीन मार्ग पाठक समझ सकेंगे। भक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्जीका है। रामनामके जपसे अंतरंगउपासना करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथा शक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकीही बहिरंग उपासना करनी, ये भक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमानजीकी जीवनीके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते हैं। ऐसे औरभी बहुत भक्त हैं। उनके चरित्रोंमेंभी यह बात दिखाई देगी।

विरोधका परिहार।

ईशोपनिषद्में 'विद्या प्रकरण' और 'संभूति प्रकरण' हैं। उनमें 'विद्या अविद्या' और 'संभूति असंभूति' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अत्यन्त विविध अर्थ किए हैं। इसीलिए इनके अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे क्या होते हैं यह यहां दिखाना आवश्यक है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम मंत्रमें 'ईशावास्यमिदं सर्वं' ऐसा वाक्य है। इसमें 'ईश और इदं' ये दो पदार्थ एक दूसरेसे भिन्न वर्णन किए गए हैं। इनका ज्ञान ही ज्ञानक्षेत्र है।

ईश	इदं
ईश	जगत्
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
आत्म विद्या	अनात्मविद्या
··· विद्या	अ···विद्या

इस प्रकार ये शब्द प्रथम मंत्रके अनुरोधसे बनते हैं। यही शब्द विद्या अविद्या प्रकरणमें क्रमशः 'आत्मज्ञान और जगत्का ज्ञान' इस अर्थमें आए हुए हैं। पहिले मंत्रके पदोंके विषयमें विचार करनेपर अगले मंत्रोंका स्पष्टीकरण सुगमतासे होजाता है। और किसीभी प्रकारकी शंका नहीं रहती।

इसी मंत्र भागके अगले 'जगत्यां जगत्' ये शब्द जगत्का स्वरूप वर्णन करनेवाले हैं। जगत् कैसे स्थित है? इसका उत्तर है कि वह 'जगतीके आधारसे जगत्' स्थित है। जगतोंके समूह का नामही जगती है। 'संघके आधारसे व्यक्ति इस जगत्में रहता है' यह जगत्का नियम है। 'एक और उसकी जाति', यह जगत् का रूप है।-

जगती	जगत्
सं+भूति	अ+संभूति
संघ	व्यक्ति

'सं+भू' धातुका अर्थ 'एक होकर रहना' है। एक होकर न रहनेके भावको 'अ+सं+भू' धातु दर्शा रही है। एक होकर जम करके रहनेकी एक कल्पना और एकके अकेले रहनेकी दूस-

री कल्पना, ऐसी दो कल्पनायें 'संभूति और असंभूति' इन दो शब्दोंसे दिखाई गई हैं। इन दोनोंकी जंजीर बनाकर उससे मनुष्यकी उन्नति किस प्रकार साधी जा सकती है। यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है।

परस्पर विरुद्ध दीखनेवाली बातोंको इस योजना तथा कल्पनासे यदि हम उन्नतिकी ओर ले जा सकें, तो उनसे एक दूसरेका पोषक परिणाम कैसे निकाला जा सकता है यह बात इन दोनों प्रकरणोंके मननसे पाठकगण समझ सकेंगे। विरुद्ध दिशासे जानेवाले एकदम अन्तिम सिरे किस प्रकार एक स्थानपर आकर मिलते हैं। और उन परस्पर विरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता कैसे लेनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यान पूर्वक देखें, क्यों कि जगत्‌में सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदी कहीं भेटभी होगई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता करना न आनेसे प्रायः झगडे होते हैं और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है। परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें एक रूप बनाना आया, तो दोनोंके अनेक प्रकारके कल्याण हो सकते हैं। विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको एक कैसे बनाना चाहिए, यह इस प्रकरण पर विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है।

असुर्य लोक।

'असुर्य लोक' गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं ऐसा तृतीय मंत्रमें कहा है। ये असुर्य लोक कौनसे हैं, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए हैं। कितनोंने 'सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश' ऐसा अर्थ किया है। परन्तु यहांपर 'असुर्य' शब्द है 'असूर्य' नहीं। दूसरे कुछ मानते हैं कि 'असुर' का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम 'असुर्यलोक' है। परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते। वेदमें 'असु+र' यह शब्द 'प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला'

इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है। वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए 'असुर' शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है। 'असुरत्व' शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार, वाज० यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्वमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ हुआ है। 'असुर्य' शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमेंभी नहीं आया है और केवल 'परमेश्वरसे मिलने वाले (असु-र्य) प्राणोंके बल' इसी एक अर्थमें आया है। प्राणके ऊपरके बौद्धिक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न हैं।

इस अर्थको ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोडासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है। शरीरमें (असु) प्राणोंकी शक्तिको गति देनेवाला आत्मा है। उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि प्राणोका कार्य बन्द हुआ। इस दशामें शरीरमें (असु+र) प्राणशक्ति देनेवाला आत्मा ही है इसमें शंका नहीं। इस आत्माके जो बल शरीरमें दीखते हैं वे 'असुर्य' बल हैं। आत्मासे प्राप्त जो प्राणोंके बल हैं वे यही हैं। ये प्राणोंके बल इन्द्रियोंमें और शरीरमें संचार करते हैं, इसीलिए प्राणोंके बल इस स्थूल शरीरमें नजर आते हैं। रावणके शरीरमें जैसे ये असुर्य बल थे वैसेही रामकेभी शरीरमें थे। सिर्फ दोनोंमें भेद इतनाकि रावण अपनी शक्तिसे दूसरोंको परतंत्र करके अपने शारीरिक भोग बढाता था और इसलिए राक्षस गिना जाता था और श्रीरामचंद्र समर्थ होते हुए भी स्वयं कष्ट उठाकर दुःखितोंके दुखको दूर करनेके लिए आजन्म प्रयत्न करते रहे। और अतः उनकी गणना देवोंमें है। असुर्य बल दोनोंमें होता हुआभी एक देव और दूसरा राक्षस बन सकता है। इसका कारण उत्कृष्ट आत्मिकशक्तिकी प्रवृत्तिमें भेद होना है। इसीलिए ही—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

'असुर्य बलसे प्रसिद्धी पाए हुए वे लोक हैं जो गाढ अंधकारसे व्याप्त हैं।' इस मंत्रमें 'असुर्यलोकों' का 'गाढ अन्धकारसे व्याप्त' ऐसा विशेषण दिया है। वह इसी लिए कि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले दूसरे असुर्य लोक भी हैं, उनका बोध इस मंत्रसे न हो। उनका वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोका आत्मभासा प्रकाशिताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्मविदो नराः॥

'असुर्य बलसे प्रसिद्ध वे लोक हैं कि जो आत्माके तेजसे प्रकाशित हैं। उनमें मरनेके बादभी उनकी गणना होती है जो कोई आत्मज्ञानी नर हैं।'

ऐसा अर्थापत्तिसे और विशेषणके अनुसंधानसे श्लोकका हम निर्माण कर सकते हैं, और इससे पता चलेगा कि असुर्यलोक जैसे राक्षसोंमें हो सकते हैं, ठीक वैसेही देवोंमें भी हो सकते हैं। रावण और राम दोनोंही असुर्य शक्तिसे युक्त थे, पर प्रथम अंधतमसे व्याप्त था और दूसरा आत्म प्रकाशसे पूर्ण था; क्यों कि प्रथमकी अन्तःकरण प्रवृत्ति स्वार्थी भोग तृष्णासे अन्ध हुई हुई थी और इसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और जगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई हुई थी। अन्तः शक्तिभी एंजिनकी तरह है। वह केवल गति देती है। एंजिनकी शक्तिसे काटनेके यंत्र जैसे फिरते हैं वैसेही जोडनेके यंत्रभी फिरते हैं। इसी प्रकार यहांभी समझना चाहिए।

लोक।

'लोक' शब्द देशवाचकभी है और जनवाचकभी है। अमुक मनुष्यको स्वर्गलोक मिला, इसका अर्थ स्वर्गस्थानमें देवजनोंमें

जाकर बसनेकी योग्यता उसे प्राप्त हुई ऐसा है। स्वर्गमें निर्जन भूमि उसे मिली ऐसा अर्थ नहीं। स्वर्ग, मृत्यु और नरक ये यदि स्थान विशेष हैं, तो वहां उस उस योग्यताके जन हैं, और कम अधिक आत्मिक योग्यता होनेसे उन उन लोकोंमें जाकर रहना होगा और योग्यता समाप्त होनेपर वापिस आना पडेगा। इससे यह पता लग सकेगा, कि किसीभी 'लोक की प्राप्ति' का अभिप्राय है कि वहांकी जनतामें जाकर बसनेकी योग्यता। 'अंधतमसावृत असुर्य लोक' और 'प्रकाश पूर्ण असुर्य लोक' इनमें कौन जाते हैं और वहांके लोकोंमें उनकी गणना कैसे होती है यह बात ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट ध्यानमें सुगमतासे आ सकेगी। लोक शब्दको देशवाचक, स्थानवाचक और जातिवाचकमें से कोईभी यदि मान लिया जावे, तो भी उन सबका मुख्य आशय एकही है। यह हम उपरोक्त विचार करनेसे समझ सकते हैं।

धनका अपहार।

प्रथम मंत्रमें 'मा गृधः कस्य स्विद् धनं'। (मं० १) ऐसा एक चरण है। उसका, '(१) लोभ मतकर, (२) धन भला किस एक व्यक्तिका है?' ऐसा अर्थ हम पहिले कर आए हैं। कुछ लोक इस मंत्रखण्डके ऐसे दो भाग न मानते हुए 'कस्य स्विद् धनं मा गृधः।' किसीकेभी धनका लोभ मत रख, ऐसा अर्थ करते हैं। यद्यपि यह अर्थ बुरा नहीं है तथापि इस मंत्रमें जो 'स्वित्' शब्द है वह प्रश्नार्थक है। 'क्या, भला' ऐसाही उसका अर्थ होता है। 'कस्य स्वित्' इसका 'कस्य चित्' ऐसा अर्थ नहीं होता। इसके सिवाय कुछ और जो दूसरा अर्थ करते हैं वह इस मंत्र भागका अर्थ सीधे तौरपर नहीं होता। और खेंचातानीकरके उस प्रकारसे अर्थ कियाभी तो उसका अर्थ 'दूसरे किसीकेभी धनपर लोभ

दृष्टि मतकर ' ऐसा होगा। दूसरेके धनका अपहार मतकर, दूसरेको लूट करके अपने उपभोग मत बढा। यह एक उत्तमही उपदेश है पर इससे अर्थापत्तिद्वारा एक ऐसी ध्वनि निकलती है कि 'स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पैत्रिक संपत्ति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरेकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सर्व संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोईभी आपत्ति नहीं।" इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मकी दृष्टिमें थोडासा गौणही प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहता है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् " उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कार करनेमें, समान लोकोंकी संगतिकरणमें और जिनमें न्यूनता है उनकी न्यूनता हटाकर पूर्णता करनेके लिए दान देनेमें व्यय करना चाहिए।" यज्ञ अर्थात् 'सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म।' अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिए। अपने धनका ऐसा उपयोग करना यही वास्तविक उपभोग [त्यक्तेन भुञ्जीथाः। (मं० १)] है ऐसा माने, और ऐसा अपने धनका यज्ञ करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भोग करे। यज्ञ-शेष भक्षण यह जो धर्म है, उसका यह ऐसा अर्थ है। यहांपर दूसरेके धनका लोभ नहीं करना चाहिए इतनाही है यह बात नहीं अपितु अपने धनकाभी लोभ न करे ऐसा दर्शाया है। (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) दानसे अपने धनके भोगकी आज्ञा मिलनेपरभी, (मा गृधः) धनका लोभ मत कर। (कस्य स्वित् धनं) किस एक व्यक्तिका भला धन है? इसका विचार कर। ऐसा मंत्रका अर्थ सीधा दीखता है। विचारकको उसी समय पता लग जाएगा कि धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है; क्यों कि जो व्यक्ति धन मेरा है ऐसा मानता है वह व्यक्ति थोडेही समयमें सब धन यहींपर

छोडकर चला जाता है। इसलिए धन किसीभी एक व्यक्तिका नहीं यह सत्य है। धन सब जनताका, समाजका, संघका अथवा जातिका है, व्यक्तिका नहीं। यद्यपि धन कुछ कालके लिए एक व्यक्तिके आधीन होता है ऐसा अनुभव है, तथापि उस धनका वास्तविक स्वामी समाज है और वह व्यक्ति उस समाजके धनके एक भागका 'पंच' (ट्रस्टी) है। पंच अपने आधीन धनका अपने लिए उपभोग नहीं कर सकता, वह जिसका है उसके लिए उसका उपयोग कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यहां प्रत्येक व्यक्तिको अपने धनका यज्ञ करनेका ही अधिकार है, अर्थात् जनताके हितार्थ कर्तव्यकर्म करनेमेंही खर्च करनेका उसे अधिकार है। उस धनका अपने भोगके लिए खर्च करनेका उसे अधिकार नहीं।

इस विवेचनसे पाठकोंको पता चला होगा कि "मा गृधः। कस्य स्वित् धनं?" इस प्रकारके दो वाक्य मानकर इन दो वाक्योंका हमने अर्थ किया है। इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थ करना यह वेदकी इतर शिक्षाका अनुसरण करते हुए है और दोनों वाक्योंका एकत्र अर्थ करके दूसरे जैसा करते हैं उस प्रकार अर्थ करना यह अर्थ गौरवकी दृष्टिसे क्या, और वेदके इतर उपदेशोंकी दृष्टिसे क्या, गौण ही है। 'अपरिग्रह-वृत्ति रखनी चाहिए,' ऐसा जो यम नियामोंके दशविध नियमोंमें कहा है, उसका कारण यह ऐसा है। पाठक इसका विशेष विचार करें।

अग्नि देवता।

ईशोपनिषद्के अन्तिम मंत्रमें 'अग्नि' देवताकी प्रार्थना है। वहां अग्नि शब्दसे किसका बोध लेना चाहिए इसका विचार करना चाहिए। बहुतसे लोक अग्नि शब्दसे 'यज्ञमें उपयोगमें आनेवा-

ली आग ' ऐसा यहां समझते हैं। यद्यपि अग्नि शब्दका ऐसा अर्थ है तथापि वह यहां इष्ट नहीं है। यह संपूर्ण सूक्त एकही देवताका वर्णन करता है। उसी एकही देवके लिए इस सूक्तमें निम्न नाम आए हैं— (मं० १) ईश, (मं० ४) एकं, तत् एनत्; पूर्वं, (मं० ५) तत्, (मं० ६-७) आत्मा, (मं० ८) सः, कविः, स्वयंभूः, (मं० ९) सत्यं, (मं० १६) पूषा, ऋषिः, यमः, सूर्यः, (मं० १८) अग्निः।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर ' सः, तत्, ईशः, स्वयंभूः, कविः, सत्यः, पूषा, यमः, अग्निः, आत्मा, ' इत्यादि सर्व नाम एकही परमात्माके हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है। एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सब शब्द आए हुए हैं। ' आत्मा ' के सिवाय इस सूक्तका अन्य कोई देवता आजतक किसीनेभी नहीं माना है। अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाचक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है। यही आशय निम्न ऋचाभी दर्शा रही है। -

" इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ. १।१६४।४६।

इस मंत्रमें एक आत्माकेइन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ऐसा कहा है। इस वेद मंत्र को देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयंभू परमात्माकेही वाचक हैं इस विषयमें शंका नहीं रहेगी।

द्वैत और अद्वैत।

इस सूक्तमें प्रायः बहुतसे मंत्र द्वैतपरक हैं। केवल सातवें मंत्रमें अद्वैतानुभव या ' एकत्वका अनुभव ' कहा गया है। अनेक लोक

द्वैत और अद्वैतके विषयमें विवाद करते हैं। परन्तु केवल द्वैत वाद या केवल अद्वैत वाद सर्वथा नहीं है। 'जाग्रति और स्वप्न' इन दो अवस्थाओंका अनुभव करती हुई आत्माको द्वैतका अनुभव मिलता रहता है। उसी प्रकार 'सुषुप्ति और तुर्या' इन दो अवस्थाओंमें अद्वैतका अनुभव मिलता है। इस प्रकार यह द्वैत मिश्रित अद्वैत अथवा अद्वैत मिश्रित द्वैत है। इसलिए बहुधा प्रत्येक ब्रह्मविद्याके ग्रंथमें इन दोनों अनुभवोंका विचार किया हुआ होता है। उपासना, कर्म, भक्ति आदि सर्व अनुष्ठान जाग्रत अवस्थामें होनेसे 'उसका मैं उपासक' इस द्वैत भावनासे किए जाते हैं। परन्तु जब 'वही सर्वत्र समरस भरा हुआ है' ऐसा अनुभव होकर उस एकही आत्माका सर्वत्र अनुभव होता है, तब वह उपासक ऊपरकी भूमिकामें जा पहुंचता है। उस समयका अनुभव अद्वैतका होता है। ये दोनों अनुभव उपासकको मिलते हैं अतः ये दोनोंही अनुभव सर्वथा सत्य हैं। इसलिए द्वैत और अद्वैतके विषयमें झगडना करना व्यर्थ है। दोनों अनुभवोंके मिलनेसे पूर्णानुभव होता है, यह स्मरण रखना चाहिए।

इस प्रकार ईशोपनिषद्का विचार है। यह उपनिषद् सबसे मुख्य है और इसीके थोडे थोडे सिद्धान्तोंका अधिक स्पष्टी करण करनेके लिए इतर उपनिषद् बनी हैं। इतनी इस उपनिषद्की महिमा है इसका जो जितना मनन करेगा वह उतना इससे ज्ञान प्राप्त होगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईशोपनिषद्‌के मंत्रोंका तुलनात्मक विचार।

वेदके किसी सूक्तका विचार करना हो तो साथ साथ तत् सदृश विचारवाले अन्य स्थानके वेद मंत्रोंका भी मनन करना अत्यंत आवश्यक है। इससे वेदकी गंभीरताका ज्ञान होता है और वैदिक सिद्धांत समझनेमें भी बडी सहायता होती है; इसलिए ईशोपनिषद्‌के मंत्रोंके साथ अन्यान्य वेद मंत्रोंकी तुलना अत्र करते हैं—

मंत्र १

प्रथम मंत्रका सबसे प्रथमका कथन "ईशा वास्यमिदं सर्वं" यह है। इसका अर्थ है "ईश इस सबमें व्याप्त है।" अथवा ईश्वर द्वारा यह सब घेरा जाने योग्य है। यहां ईशका अस्तित्व सबसे प्रथम कहा है। यह ईश सबके ऊपर शासक क्यों है, किन गुणोंसे यह सबका ईश्वर हुआ है, इसका विचार करनेके समय निम्न लिखित मंत्र हमारे सन्मुख आते हैं—

यो विश्वस्य जगतो देव ईशे। ऋ० ७।१०१।२
त्वं ह्येक ईशिषे। ऋ। ४।३२।७
त्वमीशीय वस्व एक इत्। ऋ० ८।१४।१

"जो संपूर्ण जगत्‌पर एक देव स्वामित्व करता है। तूं ही एक इसका ईश है, इस सब जगत् रूपी धनका तू ही एक स्वामी है।" इस प्रकार इस ईश्वरके स्वामी होनेके विषयमें वेदमें अन्य स्थानमें कहा है। सब जगत्‌का यही एक देव है। यह ईशोपनिषद्‌का भाव ही इन मंत्रोंमें है। अब देखिये कि यह किस कारण ईश बना है-

ईशानो अप्रतिष्कुतः । ऋ० १।७।४

विश्वस्येशान ओजसा । ऋ० ८।१७।९

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा । ऋ० ८।६।४१

" वह ईश्वर ऐसा है कि जिसका प्रतिकार कोई नहीं कर सकता । वह सब जगत्का ईश्वर अपने बलसे हुआ हुआ है। वह ज्ञानी सबका एक पूर्वज अपने बलसे सबका ईश हुआ हुआ है।" इन तीन मंत्रोंमें उसका सबसे अधिक सामर्थ्य है इसलिए अपने सामर्थ्यसे ही वह सबका ईश बना है, ऐसा स्पष्ट शब्दोंमें कहा है । इसके बराबर अथवा इससे अधिक सामर्थ्य किसी अन्यका नहीं है, सब अन्योंके सामर्थ्य इससे कम हैं, इसलिए इस एकही का प्रभुत्व सबपर हुआ है । सामर्थ्यसे ही प्रभुत्व अथवा स्वराज्य मिल सकता है, स्वराज्यकी प्राप्तिके लिए दूसरा उपाय नहीं है यह बोध यहां मिल सकता है । उपनिषदोंमें भी यही बात कही है देखिये-

क्षरात्मानावीशते देव एकः । श्वे० उ० १।१०

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः । श्वे० उ० ४।१३

य ईशे अस्य जगतः । श्वे० ६।१७

सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । श्वे० उ० ३।१ अथर्व शिरस् ५

यः सर्वान् देवानीशत ईशनीभिः ।

" क्षर अर्थात् नाशवन्त जगत् और जीवात्मा इनपर एक परमात्मा प्रभुत्व करता है। द्विपाद् और चतुष्पादका यह एकही ईश है। सब जगत्का यह एकही ईश्वर हैं। सब लोकों का प्रभुत्व यह अपनी शक्तियोंसे करता है। सब देवोंपर भी यह अपनी शक्तियोंसे प्रभुत्व करता है ।" इन उपनिषद्वचनोंमें ईश्वरके पास ईशन शक्तियां हैं जिस कारण वह सबपर स्वामित्व करता है, यह बात कही है। यह तो शक्तिका प्रभाव हुआ । परन्तु केवल शक्ति होनेसे ही कार्य नहीं चल सकता, क्यों कि बलके आधिक्यसे किसीने

किसीपर अधिकार जमा भी दिया, तो भी उसके वशमें सदाके लिए सबका रहना कठिन हो जाता है। यदि उसने सबको वशमें किया और उनकी इच्छाओंको वशमें किया तभी वह सदाके लिये स्वामी माना जा सकता है। परमेश्वरका सबपर प्रभुत्व इसी कारण है कि उसने सबकी इच्छाओंको वशमें किया हुआ है, अर्थात् सबको संतोष देकर वशमें किया है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये-

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥ ऋ० १।११।८
शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम्।
ईशानं राय ईमहे॥ ऋ० ६।५४।८
ईशान इमा भुवनानि वीयसे॥ ऋ० ९।८६।३७
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्॥
ऋ० १।८९।५

"इस ईश्वरके हजारों उपकार हैं, नहीं नहीं उससेभी उसके अधिक उपकार हैं, इसलिए अपने बलसे प्रभु बने हुए उस ईश्वरकी स्तुति हम करते हैं। वह हमारी प्रार्थना सुनता है, हमारा पोषण करता है, वह अधिक प्रभावशाली है और उसका अक्षय धन है, इसलिये उस ईश्वरकी स्तुति हम अपने कल्याणके लिये करते हैं। इन सब भुवनोंकी प्रगति वह करता है। उस स्थावर जंगमके ईशकी प्रार्थना हम अपनी रक्षाके लिये करते हैं।" इन मंत्र भागोंमें उसके वशमें आनन्दसे सब स्थिरचर जगत् क्यों रहा है, इसके हेतु दिये हैं। स्थिरचर जगत् पर उसके अनंत उपकार हैं, सबका पोषण उसके सामर्थ्यसे होता है, किसीकी उन्नतिमें किसीभी प्रकारकी रुकावट नहीं होती, सबकी उत्तम प्रकारसे रक्षाका कार्य वही करता है, सबको धनादि पदार्थ देनेपर भी उसका खजाना जैसाका तैसाही भरा रहता है, इत्यादि गुण उसमें होनेसे उसके

अधिकारके अंदर सब आनंदसे रहते हैं। अर्थात् जो राजा अपनी प्रजाका शासन इस प्रकार करेगा, उसीके वशमें सब प्रजा रहेगी, अन्यथा जो राजा केवल पाशविक बलपर निर्भर रहता हुआ प्रजाका शासन क्रूरताके साथ करेगा, उनके मनोंको आकर्षित करनेका यत्न न करेगा और उनकी वृद्धि करनेका विचार तक नहीं करेगा, उसका राज्य शासन चिरकालतक नहीं रहेगा। इन मंत्र भागोंसे यह बोध मिल सकता है। इतने गुणोंसे ईश्वरका शासन सबपर हुआ है।

'ईशा वास्यमिदं सर्वं' इस मंत्रभागके साथ इन मंत्रोंका विचार करनेसे दूसरोंपर अधिकार चलानेके विषयकी वैदिक कल्पना अधिक खुल जाती है और वेदका आशय मनमें अधिक स्पष्टताके साथ आसकता है।

दान।

प्रथम मंत्रमें दूसरा कथन 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह है। त्यागसे भोग कर। अर्थात् दूसरोंके ऊपर उपकार करके पश्चात् अपने लिये भोग कर, अपने भोगके लिये दूसरोंके गलोंपर छुरा न चला। दूसरोंके लिए अपना आत्म समर्पण कर। यही यज्ञ है। इस विषयमें अनेक वार पहिलेभी कह आए हैं। अनासक्ति रखकर व्यवहार करनेका भाव इस विधानमें है। दानके विषयमें ऋग्वेदमें एक सूक्त ही है और अन्य सूक्तोंमें अनेक वार दानकी प्रशंसा की है। प्रत्यक्ष परमेश्वर सहस्रों प्रकारके दान करता है ऐसेभी अनेक मंत्र हैं, अर्थात् उसका अनुकरण करने की इच्छा हो गई तो भी दान करना चाहिए। ईश्वरत्वके गुणोंमें त्याग और दान एक विशेष गुण है, इस विषयमें वेदके आदेश स्पष्ट हैं। यहां उदाहरणके लिये दान सूक्तके एक दो मंत्र देते हैं—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ १॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ २॥
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥
पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५॥
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

ऋ० १०।११७

" दान देनेवालेका धन निश्चयसे कम नहीं होता। और जो (अपृणन्) दान न देनेवाला होता है उसको सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता ॥ १ ॥ (कृशाय) दुर्बल होनेके कारण अन्नकी इच्छा करके (चरते) भ्रमण करनेवाला घर घरमें भीक मांगनेकी इ-च्छासे घूमता है, उसको जो मनुष्य अन्न देता है (स इत् भोजः) वही सच्चा भोजन करता है। उसके लिये पर्याप्त धन यज्ञके लिये मिलता है और वह (अ-परीषु) कठीण प्रसंगोंमें सहायक मित्र भी प्राप्त करता है ॥ २॥ अन्नकी इच्छा करने वाले भले मनुष्यको भी समयपर दान नहीं देता, वह (न स सखा) वह सच्चा मित्र नहीं है। उससे (अपप्रेयात्) दूर भागना चाहिये, उसका घर (न ओकः) सच्चा घर नहीं है। इस लिये दूसरे दाताके पास जाना योग्य है ॥४॥ (तव्यान्) बलवान् (नाधमानाय पृणीयात्) सहायताकी इच्छा करने वालेके लिये अवश्य सहायता देवे। अपने जीवनका (द्राघीयांसं पंथां) अतिदीर्घ मार्ग अपने लिये काटना है, यह मनमें धारण करके दान देवे। क्यों कि (रथ्येव चक्रा) रथके चक्रके समान एकसे दूसरेके पास संपत्ति जाति

है ॥ ५ ॥ (अप्रचेताः) दुष्टबुद्धियुक्त दान न देनेवाला मनुष्य (अन्नं मोघं विन्दते) अन्नको व्यर्थ प्राप्त करता है । मैं सत्य कहता हूं कि वह उसका वधही है। जो श्रेष्ठ मनवालेका पोषण नहीं करता और मित्रकी सहायता नहीं करता, वह (केवल-आदी) केवल स्वयं खानेवाला (केवल-अघः) केवल पापरूप बनता है ॥ ६ ॥ ”

इस सूक्तमें दानका महत्त्व वर्णन किया है। इससे अधिक दानका महत्त्व बताना अशक्य है। पूर्वोक्त षष्ठ मंत्र कहता है कि दान न देनेवाला और अपने लिये ही भोग करनेवाला पापी होता है। इस पापसे बचनेके लिये ही ईशोपनिषद्के मंत्रमें ‘ त्यक्तेन भुञ्जीथाः ’ अर्थात् ‘ दान करके भोग कर ’ ऐसा कहा है।

मनुष्यके अन्दरका दान भाव मनुष्यकी कर्मशक्तिको सन्मार्गसे चलाता है। दान भाव मनमें न रहा तो मनुष्यका राक्षस बन जाता है। मनुष्यका देव बननेके लिये मनुष्यको दान भाव अपने अन्दर बढाना चाहिये। आगे द्वितीय मंत्रमें सत्कर्मका उपदेश होता है, उसके लिये अन्तःकरणकी आवश्यक तैयारी करनेके लिये इस मंत्रमें दानसे भोग करनेकी आज्ञा दीगई है। (मा गृधः) लोभ न कर, (कस्य स्विद्धनं) किसका भला धन है? ये वाक्यभी मनुष्यका लोभ धनपर न रहे, मनुष्य दान देनेवाला बने, इस भावके ही सूचक हैं। इस प्रकार प्रथम मंत्रकी अन्य मंत्रोंके साथ तुलना करनेके पश्चात् द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं—

मंत्र २

द्वितीय मंत्रका उपदेश यह है कि “ मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, उन्नतिका यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं। मनुष्यको सत्कर्मका लेप नहीं लगता।” मनुष्यको कर्म करनेके

लिये क्यों उपदेश किया है? इसके कारणका विचार करनेसे पता लगता है कि कर्म करना इसका स्वभाव ही है। मनुष्य प्रयत्न करे या न करे, इच्छासे करे अथवा अनिच्छासे करे, इससे कर्म होने ही हैं। इसी लिये इसको सत्कर्म करनेका उपदेश किया है। कर्म करना इसका स्वभावही होनेके कारण इसके प्रयत्नसे शुभ कर्मही हों और अशुभ कर्म न हों, इस बातके लिये प्रयत्न होने चाहिये। अन्यथा अशुभ कर्म होंगे और अवनति होगी। मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका न होता, तो उसको यह उपदेश देनेकी आवश्यकता ही न होती। जिस प्रकार कोई एक यंत्र गति उत्पन्न कर रहा है और वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है। तो उसके मालिकको उचित है कि वह उसकी गतिका उपयोग शुभ कार्यमें ही करनेका यत्न करे। इसी प्रकार यहां है। मनुष्य आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी, अन्य इंद्रियां और शरीर आदि साधनोंसे प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है और कर्म-हीन नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें इसकी कर्म शक्तिसे सत्कर्म ही हों और कुकर्म न हों,इस विषयमें सावधानीसे प्रयत्न होने चाहिये। इसी कार्यके लिये संपूर्ण यजुर्वेदका उपदेश है।

इसी ईश उपनिषद्में मनुष्यका नाम " क्रतु " कहा है। क्रतुका अर्थ कर्म है। मनुष्य स्वयं कर्मरूप है, यह बात इस शब्दने बता दी है। इसकी आयु १०० वर्षकी है, और प्रत्येक वर्ष एक एक क्रतुके लिये है, इसप्रकार मनुष्य अपनी पूर्ण आयुमें १०० क्रतु कर सकता है, इस लिये इसी मनुष्यको " शत+क्रतु " कहते हैं। सौ वर्ष सत्कर्म करनेमें व्यतीत करनेकी उच्च कल्पना यहां कही है। आयुका कोईभी भाग कुकर्ममें व्यर्थ खर्च नहीं होना चाहिये, यह सूचना यहां मिलती है। इस विषयमें निम्न लिखित वेदमंत्र देखने योग्य हैं—

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः। अथर्व० ४।२४।६

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ॥ अ० ६।२३।२

"पहिला यह कर्म करनेके लिये ही हुआ है। सूर्य देवका उदय होते ही सब मनुष्य कर्म करनेका प्रारंभ करें।" इत्यादि सामान्य आज्ञाएं मनुष्यको कर्मकी प्रेरणा करनेके लिये ही दी हैं। इसी प्रकार अपने सब अंगों और अवयवोंको उत्तम सत्कार्यमें लगानेकी प्रतिज्ञा निम्न लिखित मंत्रमें है वह यहां देखने योग्य है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
वा० यजु० २५।२१

"हम कानोंसे उत्तम वचन सुनेंगे, आंखोंसे उत्तम पदार्थ देखेंगे, और जबतक आयु रहेगी, तबतक स्थिर अंगोंसे देवोंका हित करेंगे।" अर्थात् हरएक अवयवसे शुभ कर्म ही करेंगे और कभी अशुभ कर्म नहीं करेंगे। यह वैदिक प्रतिज्ञा कर्मका विचार करनेके समय मनन करने योग्य है। इस प्रतिज्ञाका पालन होनेसे मनुष्यका सुधार निःसन्देह होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्यों कि इसमें हरएक अवयवसे उत्तम शुभ कर्म करानेका दृढ संकल्प व्यक्त किया है।

मंत्र ३

तीसरे मंत्रमें "अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोकमें आत्मघातकी लोक जाते हैं" ऐसा कहा है। यहां असुर्य लोकका विचार करनेके समय निम्न लिखित उपनिषद्वचन सबसे प्रथम देखना चाहिये—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः॥
बृह० उ० ४।४।११

"जहां आनन्द नहीं है ऐसे लोक अन्धतमसे व्याप्त हैं उन

लोकोंमें अविद्वान् और अज्ञानी लोग जाते हैं।" इस उपनिषद्वचन में "असुर्या नाम" के स्थानपर "अनन्दा नाम" शब्द हैं और "आत्महनो जनाः" के स्थानपर "अविद्वांसोऽबुधा जनाः" ये शब्द हैं। इन शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मघातकी लोग' वे ही हैं कि जो 'अविद्वान और अज्ञानी' होते हैं। और 'असुर्य लोक' वे हैं कि जो 'आनन्द रहित हैं' और जहां केवल कष्ट और दुःख है। उपनिषद्वचनोंकी तुलना करनेसे इस प्रकार अर्थ खुल जाता है। अब हम वेद मंत्रोंके प्रमाणसे 'असुर्य' शब्दका अर्थ निश्चित करते हैं। असुर्य शब्दके विषयमें इससे पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें और उसके विवरणके प्रसंग में बहुत कुछ लिखा गया है, अब यहां वेद मंत्रोंमें 'असुर और असुर्य' ये शब्द किस अर्थ में आये हैं इसका विचार करना है। इसलिए ऋग्वेदके एक दो मंत्र देखिये —

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववां यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥
ऋ० १।३५।१०

"सुवर्णके आभूषण हाथमें धारण करनेवाला, उत्तम नेता, उत्तम स्तुति करने योग्य, आत्मिक बलसे युक्त (असु+रः) जीवन देनेवाला देव (अर्वाङ् यातु) हमारे पास आ जावे। (रक्षसः अपसेधन्) राक्षसोंका नाश करता हुआ और यातुधानोंको दूर करता हुआ, प्रतिदिन स्तुतिको ग्रहण करता हुआ यह देव है।" इस मंत्रमें राक्षसोंका नाश करनेवाला देव 'असुर' शब्दसे यहां वर्णित हुआ हुआ है। इससे सिद्ध है कि यह असुर शब्द परमेश्वरका यहां वाचक है। तथा और देखिये—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः॥
ऋ० २ २७।१०।

"हे असुर वरुण ! जो देव हैं और जो मर्त्य हैं उन सबका तू राजा है।" इस मंत्रमें देवोंके ज्येष्ठ देवका नाम असुर कहा है। इस प्रकार असुर शब्द परमात्माका वाचक है क्यों कि वही प्राणशक्तिका देनेवाला है, वही हमें जीवन देता है। इस असुर देवका अर्थात् परमात्माका जो सामर्थ्य है वह असुर्य है। अब इस असुर्यके प्रयोग मंत्रोंमें देखिये—

धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि ॥

ऋ० २।२७।४

"सब भुवनोंके रक्षक और जगत्में रहनेवाले आदित्य देव इस (असुर्य) प्राणोंके बलको रक्षण करते हुए धारण करते हैं।" इस मंत्रमें परमात्माके इस असुर्य बलका धारण जगद्रक्षक आदित्यदेव करते हैं, ऐसा कहा है। और देखिये-

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ।

ऋ० २।३३।९

"यह भुवनोंका स्वामी ईश्वर है, इसकी (असुर्य) शक्ति इससे कोईभी छीन नहीं सकता अर्थात् यह परमात्माकी निजशक्ति होनेसे उसके पास सदा रहती है और वह इस शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करता है। अब स्वयं परमात्मा कहता है-

अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त ।

ऋ० ४।४२।२

"मैं राजा वरुण हूं मेरे लिये ही वे असुर्य बल सबसे पहिले धारण किये गये थे।" अर्थात् वे सब बल परमात्माके ही हैं और उनको सब अन्य देव धारण करते हैं और उस प्राणके बलसे बलवान होते हैं। तथा और देखिये-

सत्रा वाजानामभवो विभक्ता यद्देवेषु धारयथा असुर्यम् ॥

ऋ० ६।३६।१

" यह ईश्वर अन्न धन अथवा बल सबको देता है और सूर्यादि देवोंके अन्दर अपना बल धारण करता है।" इस मंत्रमें कहा है कि परमेश्वर अपना बल संपूर्ण देवोंमें स्थापन करता है, अर्थात् इस बलसे सब देव बलवान होते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। सूर्यके अन्दर वही बल प्रकाशके रूपसे दिखाई देता है। वायुमें गति, और अग्निमें दाहकता आदि गुण उसीके हैं, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंमें अन्यान्य शक्तियां उसी के कारण दिखाई देती हैं। इसीकारण कहा है कि—

मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्।

ऋ० ८।१०१।१२

" संपूर्ण देवोंका यह मुखिया है, इसका कारण यह है कि इसमें (असुर्यः) जीवन देनेकी शक्ति है और इसमें (मह्ना) महत्त्व भी विशेष है और इसके अन्दर न दबनेवाला व्यापक तेज है।" इसमें भी संपूर्ण देवोंका मुखिया यह असुर्य शक्तिवाला परमेश्वर है ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् परमेश्वरकी विशाल सत्ता इस असुर्य शक्तिके कारणही सबके ऊपर हुई हुई है। अन्य देवोंमें असुर्य शक्ति नहीं है और केवल इस परमेश्वरमें ही वह शक्ति है, इस कारण परमेश्वरका प्रभुत्व सबके ऊपर हुआ हुआ है। ये असुर्य बल कितने प्रकारके हैं इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र अवश्य देखने योग्य है—

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥

ऋ० १०।५४।४

" तेरे न दबनेवाले चार असुर्य बल हैं जिससे विविध कर्म तू

करता है ॥ " इस ईश्वरकी यह अदम्य शक्ति है इसलिये ही इस जगत्के अन्दर चलनेवाले अनंत कर्म वह कर सकता है । और इसी कारण वह सबमें श्रेष्ठ है ।

" असुर्य ' शब्द जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ऐसे मंत्र अनेक हैं, उनमेंसे कुछ मंत्र यहां दिये हैं। इनको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि ' असुर्य ' शब्दका अर्थ ' जीवन शक्ति देनेवाले ईश्वरका अदम्य बल ' ऐसा है । वेदमें इस असुर्य शब्दका दूसरा अर्थ नहीं है। ईशोपनिषद्के इस तृतीय मंत्रमें जो ' असुर्य लोक ' शब्द है उसमें यह अर्थ स्वीकृत किया जाय तो " जीवन शक्तिसे युक्त लोक ' ऐसा अर्थ उस शब्दका बनेगा। जीवन शक्तिसे युक्त तो सबही लोक हैं, सब प्राणी तो हैं ही, विशेषतः सब मनुष्य इस जीवन शक्तिसे युक्त हैं। अन्योंका विचार हम यहां छोड देते हैं। और केवल मनुष्योंका ही विचार करते हैं । सब मनुष्य यदि इस असुर्य शक्तिसे युक्त हैं तो उनमें भले और बुरे सभी लोक आगये, यह स्पष्टही है। जिस प्रकार यह असुर्य बल सज्जनोंमें है उसी प्रकार दुर्जनोंमें भी है । यह पढकर पाठक आश्चर्यसे चकित होंगे, परन्तु इतना आश्चर्य करनेका कारण नहीं है, क्योंकि यह (असु-र्य) प्राणोंका बल जैसा सज्जनोंके शरीरोंमें कार्य कर रहा है उसी प्रकार दुर्जनोंके शरीरोंमें भी कार्य कर रहा है। क्या सज्जनोंके शरीरमें ही प्राणशक्ति है और दुर्जनोंके शरीरमें नहीं है? यह कोई नहीं कह सकता। प्राणिमात्रमें अदम्य प्राणशक्ति है। यह प्राण-शक्ति आत्माकी ही शक्ति है । असु शब्द प्राणवाचक है । 'असु-र' शब्द प्राणशक्ति देनेवाले आत्माका वाचक, और असुर्य शब्द उसके अदम्य बलका वाचक है । इससे स्पष्ट विदित होगा कि आत्माकी असुर्य शक्ति प्राणिमात्रमें है। वह शक्ति सज्जन और दुर्जनमें समानतया व्याप्त है । दोनों स्थानोंपर वह कार्य कररही है ।

ऋग्वेदादि चारों वेदोंमें 'असुर्य' शब्दका यही अर्थ है और दूसरा कोई अर्थ नहीं है। ऐसी अवस्थामें यजुर्वेदके ईशोपनिषद् (अ० ४०) में आये हुए 'असुर्य' शब्दका भिन्न अर्थ मानना कठीन है। वेदमें किसी एक स्थानपर आये 'असुर्य' शब्दका भी भिन्न अर्थ होता, तो ईशोपनिषद्के 'असुर्य' शब्दका अर्थ भी भिन्न मानना संभव होता, परंतु वेदके असुर्य शब्दवाले संपूर्ण मंत्र हमने देखे हैं। उनमें एकका भी अर्थ इससे भिन्न नहीं है, इस लिये ईशोपनिषद्के इस 'असुर्य' शब्दका अर्थ 'आत्माकी जीवन-शक्ति' ऐसा ही मानना उचित है।

यह अर्थ लेनेपरभी बुरे और भले लोकोंकी व्यवस्था उत्तम प्रकार होजाती है, 'अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोक" और "आत्म-प्रकाशसे प्रकाशित असुर्य लोक" ऐसे दो भेद, इसके माननेसे इस शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस विषयमें अधिक विवेचन पूर्व स्थानमें लिखा ही गया है। इसलिए अब इसका अधिक विचार करनेकी अवश्यकता नहीं है।

मंत्र ४

"यह आत्मा एक, अद्वितीय, सबमें पूर्व, स्थिर, अत्यंत वेग-वान्, ज्ञानी और मनसेभी वेगवान् है। वह गतिवाले अन्य पदा-र्थोंके भी आगे पंहुचता है और उसीके आधारसे माताके गर्भमें आनेवाला जीव कर्मोंका धारण करता है।"

इस मंत्रमें जो आत्माके गुण वर्णन किये हैं वे सब प्रसिद्ध हैं और उपनिषदादि सब ग्रंथोंमें वे आगये हैं, इसलिये उनके विषय में अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इस आत्माके एक होनेके विषयमें यहां कुछ लिखना आवश्यक है—

प्रथम मंत्रमें "ईश" शब्द एकवचनान्त है, इसलिये ईश एकही

है यह बात सिद्ध होती है, तथापि अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां इस मंत्रमें 'एकं' शब्द रख कर उसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, इसके साथ निम्न लिखित मंत्र देखिये-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥
तदिदं जगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥

अथर्व० १३।४।२

"यह ईश्वर दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचमा, छठा, सातमा, आठमा, नवमा, दसमा नहीं कहा जा सकता, वह बडा भारी बलशाली है, वह एकही है, एकही सर्वत्र घेरनेवाला, केवल एकही है।"

ईश्वरके एक होनेके विषयमें कितना बल इस मंत्रमें दिया गया है। उसका अवलोकन पाठक करें। ईश्वरके निःसंदेह एक होनेके विषयमें इस मंत्रको देखनेके पश्चात् कोई संदेह नहीं रह सकता। तथापि उपनिषदोंके कुछ वचन यहां देखिये—

आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत् । ऐ० उ० १।१
कत्येव देवाः···एक एव ॥ बृ० उ० ३।९।१
एको देवः सर्व भूतेषु गूढः ॥ श्वे० उ० ६।१
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

कठ० ५।१०।११

"प्रारंभमें एकही आत्मा था ॥ कितने देव हैं? ···केवल एकही देव है ॥ एक देव सब भूतोंमें व्याप्त और गुप्त है ॥ सब भूतोंका अन्तरात्मा एकही है, वह प्रत्येक रूपके अंदर है और बाहर भी है ॥"

इन सब उपनिषद्वचनोंमें भी परमात्माके एक होनेके विषयमें

स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा हुआ है। यह सब इसीलिये कहा गया है कि जिससे ईश्वरके एक होनेके विषयमें किसीको थोडासा भी संदेह न रहे। सब एकही ईश्वरको मानें और उसीकी उपासना करके उन्नतिका साधन करें।

इसी चतुर्थ मंत्रमें 'मातरि-श्वा' शब्द है। 'माताके अन्दर रहनेवाला' यह इसका अर्थ है। पूर्व देह जिसका छूट गया है और जिसका नया देह बन रहा है, वह जीवात्मा माताके गर्भमें रहता है, यह बात सब जानते ही हैं। यही अर्थ यहां अपेक्षित है। द्वितीय मंत्रमें "सौ वर्षतक प्रशस्त कर्म करो" ऐसा उपदेश है। इस उपदेशानुसार किसीने कर्म किये, परंतु अन्तिम समयके कर्मोंका फल प्राप्त होनेके पूर्वही उसका देहान्त होगया, तो वे किये हुए कर्म कहां जाएंगे? इस शंकाका निराकरण करनेके लिये, इस मंत्रमें कहा है कि 'माताके गर्भमें रहनेवाला जीव भी संस्कार रूपसे कर्मोंका धारण करता है।' अर्थात् किये हुए कर्म विफल नहीं होते हैं, परन्तु हरएक किये हुए बुरे भले कर्मोंका बुरा भला भोग अवश्य मिलता है। वेदने यह बडी भारी महत्त्वकी बात यहां कही है। इसको जान कर पाठक उत्तम कर्म करें और स्मरण रखें कि अपना किया हुआ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता।

इस मंत्रमें 'मातरि-श्वा' शब्द विशेष महत्त्वका है इसलिये इस शब्दका आशय प्रकट करनेवाले कुछ मंत्र यहां देते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १।१६४।४६ अ० ९।१५।२८

"एकही आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं।" इनमें "सुपर्ण" शब्द है जो जीवात्मा परमात्माका वाचक प्रसिद्ध है। "द्वा सुपर्णा सयुजा

सखाया " इस मंत्रमें सुपर्ण शब्द जीवात्माकाभी वाचक है । इन्द्र शब्द परमात्माका वाचक है इसमें किसीको संदेह नहीं है। यह इन्द्र शब्द जीवात्माकाभी वाचक है और इसीसे 'इन्द्रिय' शब्द 'इन्द्रशक्तिका' वाचक बनता है । यदि इन्द्रियमें इन्द्रकी शक्ति है तो निःसंदेह इंन्द्रियके पीछे इन्द्र स्वयं है और यह इन्द्र जीवात्माही है । इसी प्रकार 'मातरिश्वा' शब्दभी जीवात्माका वाचक है । जिसके वाचक 'सुपर्ण, गरुत्मान्, इन्द्र' ये शब्द हैं, उसीका वाचक 'मातरिश्वा' शब्द है यह ऊपर दिये हुए मंत्रसे सिद्ध होता है, यह बात इस मंत्रका विचार करनेवालेको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक यहां 'मातरिश्वा' शब्द जीवात्माका वाचक होनेका अनुमान करें। और देखिये-

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ॥

अथर्व० ११।६।२५

" प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और इस वायुको प्राणभी कहते हैं।" इस मंत्रमें प्राणका नाम मातरिश्वा कहा है। प्राणभी जीवात्माकी सहचारिणी जीवन शक्ति है । इन दोनोंके विषयका वर्णन निम्न लिखित मंत्रमें देखिये—

मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे । ऋ० ३।५।१०

"यह मातरिश्वा बुद्धिके अंदर रहनेवाला प्रत्यक्ष अग्नि ही है।" हमारी गुहामें अर्थात् बुद्धिमें अथवा हृदयके अन्दर रहने वला अग्नि यहां आत्माही है। यह मंत्रभी इस मातरिश्वा शब्दका अर्थ जीवात्मा है यही बात सिद्ध करता है। और देखिये-

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वादिशः पवते मातरिश्वा ॥

अ० १३।३।१९

"सत्यके तन्तुको मनसे मापनेवाला मातरिश्वा सब दिशाओंको पवित्र करता है या चलाता है।" यहां सत्यके तन्तुका अर्थ

'परमात्मा' है, जिसको सूत्रात्मा भी कहते हैं। इस सूत्रात्माको जीवात्माही अपने मनसे देखता है और स्वयं पवित्र होकर सब दिशाओंको भी पवित्र करता है। इसके विषयमें और एक मंत्र देखिये—

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि।

ऋ० ३।२९।११

"(तनू-न-पात्) शरीरको न गिरानेवाला (मातरि-श्वा) माताके गर्भमें रहनेवाला जीवात्मा ही (गर्भः उच्यते) गर्भ है ऐसा कहा जाता है। यही (असु-रः) असु नामक जीवनशक्ति देनेवाला है, उस समय (नर-आशंसः) सब लोक इसीकी प्रशंसा करते हैं (यत् विजायते) जब यह उत्पन्न होता है।"

इस मंत्रभागमें इस मातरिश्वाका नाम 'तनू-न-पात्' कहा है। 'शरीरको न गिरानेवाला' यह इसका अर्थ है। जबतक शरीरमें यह रहता है तबतक यह शरीर गिरता नहीं, और जब यह इस शरीरको छोड देता है तब यह शरीर ऐसा गिर जाता है कि फिर उठ नहीं सकता। यह सब वर्णन देखनेसे मातरिश्वा शब्द जीवात्माका वाचक स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके अन्य अर्थ बहुत हैं, परंतु ईशोपनिषद्‌में मातरिश्वा पद माताके गर्भमें स्थित जीवात्माका वाचक प्रतीत होता है। पाठक इन मंत्रोंका विचार इस मंत्रके साथ करें और आत्माके गुण जानकर उनसे सूचित होनेवाला आत्मोन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेका यत्न करें।

मंत्र ५ से ७

"आत्मा समीप और दूर, अन्दर और बाहर सर्वत्र है। (५) जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है

वह किसीका तिरस्कार नहीं करता । (६) जिस समय आत्माही सब भूत प्रतीत होने लगा उस समय सर्वत्र एकत्व देखनेवालेको शोक और मोह नहीं होते । (७) " यह इन तीन मंत्रोंका भाव है । इस में आत्मा शब्द महत्त्वपूर्ण है । इस आत्माके गुणोंका विचार वैदिक मंत्रोंसे अब करते हैं-

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत् ॥
ऋ० १।७३।२

" जो सत्यविचारवाला सविता देव है वह अपनी कर्मशक्ति द्वारा संपूर्ण दुष्कृत्योंसे रक्षा करता है। वह अत्यंत प्रशंसनीय सत्यनिष्ठ देव आत्माके समान ही सेवनीय है । " इस मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार आत्मा सेवनीय है, उसी प्रकार सविता देव भी है । अर्थात् आत्माकी परिचर्या अवश्यही करनी चाहिये । कई लोग बाह्य पदार्थोंकी सेवा करते हैं, कई अपने शरीरकी, और कई लोग अपने इंद्रियोंकी सेवामें रमते हैं । कई अपनी बुद्धीकी वृद्धि करते हैं और कई अपने मनकी तर्कना शक्ति बढाते हैं । इतने सब प्रयत्न करते हुए भी लोग अपने आत्माकी उतनी सेवा नहीं करते, कि जितनी आत्मासे भिन्न अन्य पदार्थोंकी किया करते हैं । यह बडा भारी आश्चर्य है । इसलिये इस मंत्रमें सूचित किया है कि आत्माही प्रथम उपास्य और सेवनीय अथवा संभजनीय है । इसलिये कहा है—

आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः । ऋ० ९।२।१०

" आत्माही यज्ञमें सबसे पूर्व उपास्य है । " इसका अर्थ यह है कि आत्माके सुधार करनेका विचार मनुष्यको सबसे प्रथम करना चाहिए, और उससे भिन्न अन्य पदार्थोंका सुधार करनेका विचार उसके पश्चात् करना चाहिये । प्रायः लोग बाह्य पदार्थोंके

सुधारका यत्न करते हैं, पर आत्मसुधारकी ओर कम ख्याल करते हैं। इस कारण मनुष्यकी उन्नति जितनी होनी चाहिये उतनी नहीं होती। पाठक इसका विचार करेंगे तो उनको अपने सुधारके कार्यमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा सब देवोंकाभी आत्मा है इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं० ॥ ऋ० १०।१६८।४

"यह देवोंका आत्मा, भुवनोंका गर्भ है। यह अपनी इच्छाके अनुरूप चलता है। इसका रूप नहीं दिखाई देता है केवल इसका घोष सुनाई देता है०।" इस मंत्रमें वायुके वर्णनसे आत्माका वर्णन किया है। जिस प्रकार वायु का शब्द सुनाई देता है परंतु रूप नहीं दीखता, उसी प्रकार आत्माका रूप नहीं दीखता, परंतु उसके कार्य दिखाई देते हैं। यह सबमें रहकर सबको प्रेरणा देनेवाला एक आत्मदेव सब देवोंकाभी आत्मा है। शरीरमें सब इंद्रियगण देवताओंके अंश हैं, उनको जीवन देनेवाला यह आत्मा है, और इन सब इंद्रियोंकी उत्पत्ति करनेवाला किंवा अपनी शक्तिको विविध इंद्रियोंमें विविध कार्य करनेकी योग्य स्थितिमें रखनेवाला यह आत्मा है। पाठकोंको चाहिये कि वे अपने आत्माकी यह शक्ति अपने अंदर अनुभव करें और 'मैं आत्मा हूं' ऐसा समझकर, मैं अपनी शक्ति जिस इंद्रियमें चाहे रखूंगा और जिसमेंसे चाहे वापस लेलूंगा ऐसा निश्चय करके अपनी शक्तिपर इस प्रकारका प्रभुत्व संपादन करें। जो आत्माकी शक्ति जिधर मरजी उधर भटक रही है उस शक्तिको अपनी इच्छानुसार सत्कर्ममें लगानेका नाम संयम है। वह इस अनुष्ठानसे साध्य हो सकता है। मैं इस संयम शक्तिसे कदापि दूर न होऊं ऐसा संकल्प करनेकी सूचना निम्न लिखित मंत्र दे रहा है, उसको अब देखिये–

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य विराधिषि ।
अथर्व० ३।२९।८

" मैं आत्मा, प्राण और प्रज्ञा इन शक्तियोंसे अलग न होऊं । " अर्थात् मेरे पास ये शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें और मेरी उन्नतिकी साधनामें इनसे सहायता प्राप्त हो। कभी ऐसा न हो कि अल्प आयुमें प्राण चला जावे, प्रजा नष्ट हो जावे और आत्माभी हीन बल होकर गिर जावे । कभी इस प्रकारकी संभवना उत्पन्न न होने पावे। मनुष्यको प्रयत्न करके आत्मिक, प्राणसंबंधी और सुप्रजानिर्माण विषयक बल अपने अंदर स्थिर और स्वाधीन करना चाहिये । केवल बल बढनेसे कार्य नहीं होगा परंतु उस बलपर अपना प्रभुत्व होना चाहिये । इस प्रकार अपनी शक्ति बढते बढते सर्वात्मभाव की स्थिति प्राप्त होती है जिसका वर्णन निम्न लिखित मंत्र में पाठक देखें-

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरं ।
अस्तृतो नामाऽहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावा-
पृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ अथर्व० ५।९।७

" सूर्य मेरा चक्षु है, वायु मेरा प्राण है, पृथिवी मेरा शरीर है और अन्तरिक्ष मेरा आत्मा है । मैं (अ-स्तृतः) कभी न मरनेवाला हूं। ऐसा मैं अपने आपको द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये समर्पित करता हूं । " परमात्मामें अपने आत्माको लीन करनेसे अपने अन्दर सर्वात्मभाव आजाता है, इस अवस्थामें यह ज्ञानी अपने आत्माको सर्वात्मरूप देखता है । उस समय वह कहता है कि मेरी आंख सूर्य है और पृथ्वी शरीर है तथा वायु प्राण है । अपने प्राकृतिक अनुभवकी दशामें भी यह सत्य है । क्यों कि सूर्यके विना हमारे नेत्र क्या कर सकते हैं? हमारे नेत्र देखते हैं तो वे सूर्यकी सहायतासे ही देखते हैं । इसी प्रकार हमारा शरीर

भी पार्थिव ही है। यह तो स्थूल अर्थमें सत्यही है। परंतु यहां सर्वात्मभावकी दृष्टिसे कहा है। सर्वात्मभावकी दृष्टिसे ही जब जीवात्मा परमात्मामें लीन होता है तब वह साधक अपने आपको अपने शरीरसे भिन्न और महान् सूत्रात्मासे संयुक्त अनुभव करता है। इस समय इसका रक्षण इसके मातापिता नहीं करते प्रत्युत जगत्के मातापिता द्यावापृथिवी उसके रक्षक बनते हैं। वह भी अपने आपको उनके सन्मुख रख देता है और उनसे सुरक्षित होता हुआ अपने आपको अमर अनुभव करता है। इसी समय साधक का भाग्य खुल जाता है और उसमें दिव्य शक्तिका आविर्भाव होजाता है। दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये उनके दुःखोंको अपने सिरपर लेता है और अपना सुख दूसरोंकी शांति बढानेके लिये उनके लिये अर्पण करता है तथा अपने अन्दर सुखदुःखोंको सम देख कर सुखदुःख आनेपर हर्षशोक नहीं करता। इस प्रकार इस सर्वात्मभाव की सिद्धि है।

यह आत्मा अमर है और शरीर नाशवंत है, ऐसा माननेसे शरीरको किसीसमय आत्मा छोडता है और पुनः धारण करता है, यह बात स्वयं सिद्ध होती है। इसीलिये साधक आत्मा ऐसी प्रार्थना करता है-

पुनः प्राणः पुनरात्मा न एतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न एतु।
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥
अथर्व० ६।५३।२

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा॥ अथर्व० ७।६७।१

" मेरी चक्षु, प्राण और आत्मा मुझे पुनः प्राप्त हों, सब इंद्रिय मुझे पुनः प्राप्त हों। न दबनेवाला, शरीररक्षक, विश्वका नेता, आत्मा मेरे अन्दर है। " इत्यादि मंत्र इंद्रियादियों की पुनः पुनः प्राप्ति होती है, इस बातको बता रहे हैं। इंद्रियादियोंकी पुनः पुनः

प्राप्ति होनेका अर्थ पुनर्जन्मका होनाही है। जिस प्रकार इस जन्ममें सब इंद्रियादिक यथायोग्य हैं उसी प्रकार अगले जन्ममें प्राप्त हों और मैं उनकी सहायतासे उन्नतिको प्राप्त करूं। यह आशय इस प्रार्थना का है।

इस रीतिसे पुनर्जन्ममें वह चलता रहता है। इस मृत्युभयसे दूर होनेका उपाय है वा नहीं, अथवा जन्ममृत्युका दुःख इसको अखंड ही भोगते रहना चाहिये? इस शंकाका निरसन यह मंत्र करता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चन नो नः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्व० १०।८।४४

"परमात्मा आप्तकाम, सदातृप्त, धीर, अमर, स्वयंभू, सर्वत्र व्याप्त, अजर, युवा और वीर है। उसको जाननेसे मृत्युका भय नहीं होता।" यह मृत्युके डरको हटानेका उपाय है। सर्वात्मभावसे युक्त बननेका अर्थ इन गुणोंसे युक्त बनना है। स्वयं तृप्त, संतुष्ट, निष्काम, निर्भय और तरुण जैसे उत्साही बनने और अन्यान्य गुण अपने आत्मामें बढानेसे वह निर्भय वृत्ति अपनेमें स्थिर हो जाती है। एक बार वह भाव अपनेमें बढ गया तो फिर मृत्युका भय उसको नहीं रहता।

इस प्रकार इन मंत्रोंका मनन पाठक ईशोपनिषद्के ५से७ तकके तीनों मंत्रोंके साथ करें और आत्मोन्नतिके वैदिक मार्गको जानकर स्वयं अपने प्रयत्नसे अपनी उन्नति करें।

ईशोपनिषद्के शेष मंत्रोंका भाव स्पष्ट है और उस कारण अन्य मंत्रोंसे तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यहां ईशोपनिषद्के मंत्रोंका तुलनात्मक विचार समाप्त हुआ।

ईशोपनिषद्का रूपान्तर

श्रीमद्भागवतमें

ईशोप०
श्लोकांक०

१ आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
श्री० भागवत ८।१।१०

६ सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
श्री० भागवत ११।२।४५

६ आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
श्री० भागवत ३।२४।४६

७ यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षति मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥
श्री० भागवत० ३।९।३२

महाभारतमें

६ त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चासि वै ।
गुणानां हि प्रधानानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥
म० भारत सौप्तिकपर्व ७।५८

[इस प्रकार इतिहास और पुराणोंके ग्रंथोंमें ईशोपनिषद्का रूपान्तर है। विद्वान पाठकोंको उचित है कि वे इसकी अधिक खोज करें और रूपान्तरके श्लोक निकाल कर उनकी तुलना ईशोपनिषद्के साथ करें और उचित बोध प्राप्त करें।]



विषयानुक्रमणिका.

